गद्य-मुक्तावली

अयोध्यानाथ शर्मा

विषय संख्या RG 8.8 / 83 आगत नं० 30,856

लेखक

शीर्षक

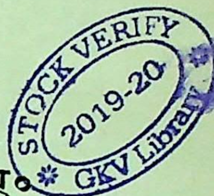
दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या



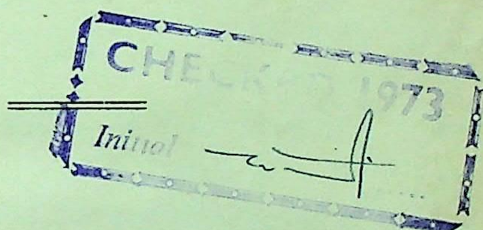


गद्य-मुक्तावली



अयोध्यानाथ शर्मा एम० ए०

प्रोफेसर, सनातन धर्म कालेज, कानपुर।



प्रकाशक

गौतम ब्रादर्स कम्पनी

मेस्टन रोड, कानपुर

१९३२

द्वितीय संस्करण

मूल्य २)

प्रकाशक—

गौतम ब्रादर्स कम्पनी,

मेस्टन रोड, कानपुर।

मुद्रक—

जाब प्रेस,

माल रोड, कानपुर.

विषय-सूची

हिंदी-गद्य का विकास

विषय-प्रवेश

प्रसिद्ध वैज्ञानिक डार्विन का विकास संबंधी सिद्धांत सृष्टि की प्रायः सभी वस्तुओं पर, किसी न किसी रूप से लागू होता है। संसार की सब वस्तुओं में आदि काल से निरंतर अस्तित्व के लिए संग्राम (Struggle for existence) होता आ रहा है। जो प्राणी या पदार्थ अधिक बलवान होता है उसके उदर में निर्बल प्राणी या पदार्थ का समावेश हो जाता है और इस संमिलन से धीरे-धीरे एक नवीन प्राणी या पदार्थ का जन्म होता रहता है। आज हम विश्व की जितनी वस्तुएँ—मनुष्य, पशु, वृक्ष, पुष्प, पक्षी, जल-जन्तु आदि—जिस रूप में देखते हैं उनका आदिम स्वरूप कुछ और ही था; लगातार जीवन-संघर्ष के अनंतर उनमें आरंभ से लेकर अब तक असंख्य परिवर्तन एवं परिमार्जन हो चुके हैं, और होते रहेंगे। यही बात संसार की भाषाओं के विषय में भी पूर्णतया कही जा सकती है। किसी भी भाषा को उदाहरण के लिए ले लीजिए। उसके उद्गम की खोज में उसके प्रवाह के ऊपर की ओर चलिए। आपको उसके क्रमशः अनेक रूप दिखाई पड़ेंगे। इसको समझने के लिए अपनी मातृ-भाषा को ही क्यों न लिया जाय? इस भाषा का जो स्वरूप इन पंक्तियों में मिल रहा है वह सौ वर्ष पूर्व नहीं था, वह न चंद के

'पृथ्वीराज रासो' में था, और न नरपतिनाल्ह के 'बीसलदेव रासो' में ही। यदि इनके कुछ और पूर्व के उपलब्ध ग्रंथों के पन्ने उलटें तो उनकी भाषा का कुछ ऐसा रूप-रंग दिखाई पड़ता है जिसे हम अपनी भाषा कहने तक में संकोच करने लगेंगे। उनमें भाषा का एक दूसरा ही रूप मिलता है। यदि हम इस भाषा-सरिता के स्रोत की ओर और भी बढ़ जायँ तो थोड़ी थोड़ी दूर पर हमें एक-दूसरे से भिन्न धाराएँ उसी प्रकार अलग दिखाई पड़ेंगी जिस प्रकार प्रयाग में गंगा और जमुना का जल। भाषा-सरिता के उद्गम की यह खोज बड़ी मनोरंजक है। अनेक भाषा-विज्ञानियों ने इस अन्वेषण में पर्याप्त श्रम किया है। किंतु अभी तक आदिम उद्गम-स्थल का पता नहीं चल सका। सब की यात्राएँ एक ही पथ पर हुई भी नहीं। कुछ दूर तक तो वे प्रायः एक साथ जाते हुए देखे जाते हैं, पर आगे चलकर उन्होंने अलग-अलग मार्ग पकड़ लिए हैं। इनमें से कुछ का कहना है कि संस्कृत से क्रमशः पाली, प्राकृत (महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी आदि) और अप्रभंश भाषाएँ निकलीं। फिर भिन्न-भिन्न अपभ्रंश भाषाओं से राजपूतानी, व्रज और खड़ी हिंदी का उद्भव हुआ। कुछ दूसरे विद्वानों का कथन है कि संस्कृत कभी साधारण जनता के बोलचाल की भाषा नहीं हुई; वह केवल साहित्य की भाषा रही है। साधारण लोग सदा से अपने नित्य के व्यवहार में प्राकृत का ही उपयोग करते रहे हैं। उनकी मूल या आदि प्राकृत से ही वर्तमान भाषाओं

का क्रमशः विकास हुआ है। जो हो, यह सब मानते हैं कि हिंदी शूरसेन-देश (व्रज-मंडल) की, अर्थात् शौरसेनी प्राकृत की पुत्री है। प्राकृत के रूपांतर अपभ्रंश में प्राचीन हिंदी का स्वरूप वर्तमान है।

इस प्राचीन हिंदी का आरंभ विक्रम की आठवीं शताब्दी से माना जाता है। यह समय कुछ ऐसे पद्य-ग्रंथों के आधार पर अनुमान किया जाता है जिनके नाम मात्र का पता चलता है। लिखित और फिर पद्यात्मक स्वरूप प्राप्त होने के बहुत पहले भाषा को बोलचाल का रूप मिल जाया करता है। जो हिंदी हमें प्राचीनतम ग्रंथों में मिलती है वह उस रूप में तुरंत न पहुँच गई होगी। धीरे-धीरे रूपांतरित होते होते उसे वह रूप मिला होगा। इससे आठवीं शताब्दी के पूर्व हिंदी भाषा के द्वारा लोग अपने मनोभाव प्रकट करने लग गए होंगे। हिंदी भाषा में सबसे प्राचीन जो ग्रंथ मिलते हैं वे सब पद्य में हैं। इससे यह अभिप्राय न समझना चाहिए कि पहले लोग नित्य की बातचीत में छंद-बद्ध वाक्यों का प्रयोग करते रहे होंगे। संसार की अन्य भाषाओं के प्रारंभिक उदाहरण भी हमें पद्य में मिलते हैं।

इन पद्यात्मक ग्रंथों के आधार पर हिंदी का आरंभ जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, होना कुछ लोग सातवीं शताब्दी में और कुछ आठवीं में मानते हैं। प्रसिद्ध भाषा-तत्वज्ञ सर जार्ज ग्रियर्सन हिंदी भाषा के १२०० वर्ष का इतिहास निम्न प्रकार से विभाजित करते हैं :—

हिंदी का काल-विभाग

(१) ७०० ई० से १३०० ई० तक चारण (Bardic) काल

(२) १५४० ई० से १७०० ई० तक महान (Augustine) काल
(३) १७०० ई० से १८०० ई० तक शुष्क (Barren) काल
(४) १८०० ई० से अब तक पुनर्जाग्रति (Renaissance) काल

इसी पुनर्जाग्रति-काल के अंतर्गत गद्य-काल माना गया है। इस काल विभाग में १३०० से १५४० तक के समय का नामकरण न जाने क्यों नहीं किया गया।

पादरी एडविन ग्रीव्स तथा एफ० ई० के महाशय ने भी अपने-अपने हिंदी साहित्य के इतिहासों में डाक्टर ग्रियर्सन का अनुसरण किया है। केवल कालों के नाम रखने में स्वातंत्र्य प्रदर्शित किया है। इन्होंने इन कालों के नाम भिन्न रखे हैं। किंतु जैसा कह चुके हैं, जिन पुस्तकों के आधार पर हिंदी का उक्त आरंभ काल माना जाता है उनके नाम ही सुने जाते हैं। इससे जब तक वे मिल न जायँ और उनकी भाषा की परख न हो जाय तब तक उक्त काल-निर्णय ठीक नहीं जान पड़ता। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में पर्याप्त विवेचन के बाद विक्रम की ११ वीं सदी का मध्य हिंदी का आरंभ-काल माना है और इस प्रकार उसे भिन्न-भिन्न युगों में बाँट कर प्रत्येक की अवधि निश्चित की है :—

(१) आदि काल (वीर गाथा काल) संवत् १०५०—१३७५ वि०
(२) पूर्व मध्य-काल (भक्ति-काल) संवत् १३७५—१७०० वि०
(३) उत्तर मध्य-काल (रीति काल) संवत् १७००—१९०० वि०
(४) आधुनिक-काल (गद्य काल) संवत् १९००— अब तक

आचार्य श्यामसुन्दरदास ने भी इस काल-विभाग को अपने 'हिंदी भाषा और साहित्य' में स्वीकार किया है। पं० रामशंकर शुक्ल ने अपने ग्रंथ में जो युगों के नाम दिए हैं तथा उनकी जो अवधि दी है वह उपर्युक्त विवेचन से अधिक युक्तियुक्त नहीं है। ऊपर के कालों के विषय में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उनका समय ठीक उसी समय से प्रारंभ नहीं होता है जिस से उनका आरंभ होना लिखा है और वे ठीक उसी समय समाप्त नहीं हो जाते हैं जिस समय उनकी अंतिम तिथि लिखी है। वास्तव में साहित्य के किसी काल का आरंभ और अंत गणित के अंकों की भांति ठीक-ठीक नहीं लिखा जा सकता। दूसरी बात इस सबंध में यह स्मरण रखने की है कि इन कालों का नामकरण उस समय की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार किया गया है। यह न समझ लेना चाहिए कि किसी काल विशेष के भीतर केवल एक ही प्रकार की रचनाएँ हुई हैं, और ऐसी रचनाएँ नहीं हुईं जो दूसरे काल के अंतर्गत हो सकें। उदाहरण के लिए आधुनिक-काल को लीजिए। आजकल केवल गद्य नहीं लिखा जाता वरन् ऐसी भी रचनाएँ होती हैं जो चारण काव्यों तक की श्रेणी में रखी जा सकती हैं। किंतु आजकल प्रधानता गद्य की है, इसी से इसे गद्य-काल कहा गया है।

अब तक हिंदी-पद्य का सर्व प्रथम ग्रंथ 'खुमान रासो' माना जाता है। इसका रचना-काल संवत् ९०० के आस-पास अनुमान किया जाता है। यद्यपि अब तक खोज में हिंदी-गद्य का कोई ग्रंथ अथवा अवतरण

हिंदी-गद्य का आरंभ

नहीं मिला, तथापि इसके पहले से बोलचाल में हमारी भाषा का जन्म हो चुका होगा। कारण, यह स्वाभाविक है कि पहले गद्य का जन्म हो और फिर उसे पद्य का रूप मिले। हिंदी-गद्य का पहला उदाहरण हमें तेरहवीं शताब्दी के महाराज पृथ्वीराज और चित्तौर के रावल समरसिंह के दान-पत्रों में मिलता है। इनमें से 'मेवाड़ की सनद' में से, जो संवत् १२२९ को है, कुछ अंश नीचे दिया जाता है :—

स्वस्ति श्री श्री चित्रकोट महाराजाधिराज तपे राज श्री श्री रावल जी श्री समरसी बचनातु दा ग्रमा आचारजु ठाकुर रुसीकेष कस्य थाने दली सु डायजे लाया अणीराज में ओषद थारी लेवेगा ओषद ऊपरी माल की थाकी है श्रो जनाना में थारा वंसरा टाला श्रो दूजो जावेगा नहीं श्रौर थारी बैठक दली में ही जी प्रमाणे परधान बरोबर कारण होवेगा।

इस उद्धरण के रेखांकित वाक्य आजकल भी ज्यों के त्यों बोले जाते हैं। इससे तथा कुछ अन्य प्रमाणों से कुछ विद्वान इन पट्टों को जाली मानते हैं।

अगली दो शताब्दियों के गद्य के नमूने उपलब्ध नहीं हैं। पंद्रहवें शतक के आरंभ (१४०७) में गोरखनाथजी
आरंभ काल के के लिखे हुए 'सिष्ट प्रमाण' नामक गद्य-ग्रंथ का
गद्य के नमूने पता चलता है। इस ग्रंथ की कुछ पंक्तियाँ अवतरित की जाती हैं :—

सो वह पुरुष संपूर्ण तीर्थ स्नान करि चुकौ अरु संपूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि कौ दै चुकौअरु सहस्र जज्ञ करि चुकौ अरु देवता सर्व पूजि चुकौ

अरु पितरनि कौं संतुष्ठ करि चुकौ स्वर्ग लोक प्राप्त करि चुकौ जा मनुष्य को मन छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो ।

अस्तु, हिंदी गद्यका आरंभ विक्रम की पंद्रहवीं सदी से मानना ठीक जान पड़ता है।

तदनंतर महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी बिट्ठलनाथ (१५७२-१६४२) रचित 'शृङ्गार रस मंडल' नामक गद्य-ग्रंथ हमें मिलता है। यह व्रजभाषा-गद्य का पहला नमूना है। इसका यह अंश देखिए —

प्रथम की सखी कहतु है। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मंद हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ताकरि निकुञ्ज विषै शृंगार रस श्रेष्ठ रसना कीनी सो पूर्ण होत भई।

इसके बाद इन बिट्ठलनाथजी के पुत्र गोकुलनाथजी के लिखे तीन ग्रंथ—'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', 'दो सौ वैष्णवों की वार्ता' और 'वन यात्रा'—बोलचाल की व्रजभाषा में मिलते हैं। इनका रचना-काल संवत् १६२५ और १६५० के बीच है। इन 'वार्ताओं' में गोकुलनाथजी ने अपने पिता एवं पितामह के शिष्य "वैष्णओं" का हाल लिखा है। यह लोग भिन्न जाति के तथा विभिन्न प्रांतों के रहने वाले थे। इस कारण इनके वर्णनों में व्रजभाषा के अतिरिक्त अरबी, फारसी, गुजराती, पंजाबी, मारवाड़ी आदि के अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। यह कथाएँ पांडित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं

लिखी गईं । इसीसे इनकी भाषा में बनावटीपन नहीं है । गोकुलनाथजी के सीधेसादे गद्य की बहार देखिए —

जब रात्र एक पहर रही तब श्रीनाथ जी ने बैशाख सुदी चौदस के दिन श्रीगिरधरजी कुं आज्ञा करी जो आज गोबर्द्धन पर्वत ऊपर राज-भोग अरोगुंगो । जब श्रीगिरिधिर जी ने मंगला करायके श्रीनाथ जी कुं पधराए । और पहेले मनुष्य पठाय के मंदिर खासा करायो और श्रीनाथ जी कुं पधारते अवार गई ।

इनके पश्चात् अकबर के समकालीन गंग भाट की संवत् १६२७ की लिखी हुई 'चंद छंद बरनन की महिमा' नाम्नी सोलह पृष्ठ की पुस्तक का पता चलता है । उसकी अंतिम दो पंक्तियाँ यह हैं —

इतना सुन के पातशाहाजी श्रीअकबर-शाहाजी आद सेर सोना नाहरदास चारण को दिया इनके डेढ़ सेर सोना होगया ।

इसके अनंतर 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास का 'अष्टयाम' देखने को मिलता है । इसका समय संवत १६५७ के लगभग ठहराया जाता है । इस पुस्तक की बानगी देखिए —

तब श्री महाराज कुमार प्रथम श्री वशिष्ठ महाराज के चरण छुइ प्रनाम करत भए । फिर अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए ।

नाभाजी के बाद लोक-प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदास का संवत् १६६९ में लिखा हुआ थोड़ा सा गद्य, एक पंचनामे के आरंभ में, मिलता है । उसे भी देख लीजिए—

श्री परमेश्वर

संवत् १६६९ समये कुआर सुदी तेरसी बार शुभ दीने लिखित पत्र

आनंदराम तथा कन्हई के अंश वीभाग पुर्वम जे आग्य दुनहु जने मागा जे आग्य भै प्रमान माना दुनहु जने वीदीत तफसील अंसे टोडरमल के मह जो वीभाग पद होत ।

इसके पश्चात् सं० १ ७१ की लिखो हुई 'भुवन दीपिका' नामक ज्योतिष ग्रंथ की भाषा-टीका मिलती है। इसके लेखक का नाम नहीं मालूम हो सका । इस टीका को दो पंक्तियाँ देखिए —

जउ अस्त्रो पुत्र तणी प्रछा करई । आठमइ नवमइ स्थानि एक लो शुक्र होइ तउ प्रताप स्वभाव रमतो कहिवउ ।

इस अज्ञात-नामा लेखक के बाद जटमल कवीश्वर को संवत् १६८० में लिखो 'गोरा बादल की कथा' मिलतो है । इसमें चित्तौर के इतिहास-प्रसिद्ध रत्नसेन-पद्मिनो और युवक-वोर बादल के त्याग का वर्णन है। इसकी भाषा में खड़ी बोली की पुट पाई जाती है । नीचे इस ग्रंथ का नमूना दिया जाता हैं :—

गोरे की आवरत आवे सा बचन सुनकर आपने पावंद की पगड़ी हाथ में लेकर वाहा सती हुई सो सिवपुर में जाके वाहा दोनो मेले हुए। गोरा बादल की कथा गुरू के बस सरस्वती के महरबानगी से पूरन भई तिस वास्ते गुरू कूँ व सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ। ये कथा सोल से आसी के साल में फागुन सुदी पुनम के रोज बनाई ।

इसी समय के लगभग ओरछा-नरेश जसवंतसिंह (१६७५-८४) के आश्रित वैकुंठमणि शुक्ल ने 'बैशाख माहात्म्य' और 'अगहन माहात्म्य' नामक दो पुस्तकें व्रजभाषा-गद्य में लिखीं।

इनकी भाषा में खड़ी बोली का भी संमिश्रण है। इसका उदाहरण ,बैशाख महात्म्य' से नीचे दी हुई पंक्तियाँ हैं —

सब देवतन की कृपा तै बैकुंठमनि सुकुल श्रीमहारानी श्रीरानी चंद्रावती के धरम पढ़िवे के अरथ यह जय रूप ग्रन्थ बैसाप महातम भाषा करत भए। एक समय नारद जू ब्रह्मा की सभा से उठि के सुमेर पर्वत को गए।

आगे चलकर संवत् १७०७ के आस-पास मनोहरदास निरंजनी कृत कुछ गद्य पुस्तकों का नाम सुना जाता है। इनके गद्य की भी दो एक पंक्तियां देखते चलिए। आप कहते हैं—

ग्रन्थ की आदि इष्ट देवता है ताको रूप दिखावत है अरु ता ग्रन्थ तोनि बिघन ता सिधि करिबै कौ हिरदै माँग ताकी स्वरूप तवन करिकै नमसकार करतु हैं।

इसके आठ वर्ष बाद सवत् १७१५ के आस-पास जगजी चारण के लिखे 'रत्नमहेशदासो-त वचनिका' हमारे सम्मुख राजपूतानी हिंदी का नमूना उपस्थित करती है। इसको एक पंक्ति देखिए—

दाली रावा का। भुजेण रासा का। चार जुग रहसी। कब बात कहसी।

इसी राजपूतानी हिंदी का एक स्वरूप (दादूदयाल के शिष्य के शिष्य) दामोदरदास हमारे लिए छोड़ गए हैं। इन्होंने सं० १७१५ के लगभग 'मार्कंडेय पुराण' का उलथा किया था। इनकी भाषा की सादगी देखिए —

अथ वदन गुरदेव कूं नमसकार गोविंद जी कूं नमसकार सरव परकार के सिध साध रिष मुनि जन सरव ही कूँ नमसकार ग्रहो तुम सव साध ऐसी बुधि देहु जा बुधि करिया ग्रंथ की बारतिक भाषा अरथ रचना करिए।

आगे चलकर जोधपुर-नरेश यशवंतसिंह के पुत्र अमरसिंह (वि० १७३७—१७८१) का गद्य और पद्य मिश्रित 'गुणसार' नामक ग्रंथ हमें मिलता है। इसमें राजा सुमति और रानी सत्य-रूपा का वृत्तांत है। भाषा इसकी मारवाड़ी है, लेकिन उसमें खड़ी बोली भी दिखाई पड़ती है। इसका कुछ अंश उद्धृत किया जाता है:—

पाछो कहियो हि पिता जो राजरा आसिर्वचनां सुम्हे आ पदवी पाया जो विमांन बैठा वेकुंठ जावा छा। सो इस भाँति परस्पर बार्ता कर राजी होयने।

इसी जमाने में 'बिहारी सतसई' की व्रजभाषा गद्य में 'अमर चंद्रिका' नाम्नी एक टीका लिखी गई थी। इसके लेखक अमरसिंह कायस्थ (१७६३—१८४०) थे। यह छत्रपुर रियासत के रहने वाले थे। इस चंद्रिका की पहली किरण देखिए—

प्रथम मंगलाचरन—यह कवि की विनती जान प्रगटत अपनी अधमता अधिकाई धुनि आंन जितौ अधम तितनी बड़ी भवबाधा यह अर्थ तिहि हरबे को चाहिये। कोऊ बड़ी समर्थ नर बाधा कै सुई हरत सुरबाधा ब्रह्मादि ब्रह्मादिक की बाधा कौं हरत जु स्याम लखि अगाध राधा

तन स्याम की बाधा रहत ना कोई याते मो बाधा हरो।❀

ब्रजभाषा-गद्य का एक और नमूना अग्रनारायण दास के सं० १८२९ में लिखित 'भक्तमाल प्रसंग' में मिलता है। इसके कुछ वाक्य नीचे लिखे जाते हैं—

तब श्रीकृष्ण अघोरबंसी बजाई ब्रज गोपिकानि सुनि राधिका ललिता विशाखादि गोपी आईं रासमंडल रच्यो रागरंग नृत्य गान आलाप आलिंगन संभासन भयो।

इस बीच १८२८ के लगभग बख्तेश ने मतिराम के 'रसराज' का तिलक किया। इसकी भाषा पंडिताऊ हिंदी का उदाहरण है। देखिए—

नाइका नाइक जो है ताको आलंबित कहैं आधार शृंगार रस होत है कौन प्रकार कै आधार कहैं दोष कैं तातैं कवि कहत है कै नाइका नाइक कौ बरनन करत हौ अपनी बुद्धि कै अनुसार तैं ग्रंथ को नाम रसराज है सो रस नाइका नाइक के आधीन होत है।

ऊपर दिए हुए गद्य के अवतरणों के अतिरिक्त भी कुछ फुटकल पंक्तियाँ भिन्न-भिन्न समय के लेखकों की मिलती हैं, किंतु कोई समूचा ग्रंथ उपलब्ध नहीं। इससे उन लेखकों के गद्य का पूरा रूप नहीं देखा जा सकता। इस प्रकार हम

❀ मूल—

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तनकी झाँई परे स्याम हरित दुति होय॥

देखते हैं कि विक्रम की पंद्रहवीं से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक हिंदी गद्य की सरिता अनेक धाराओं—व्रज, राजपूतानी, खड़ी आदि—में होकर बहती आई। इस युग में गोस्वामी गोकुल-नाथ की 'वार्ताओं' के अतिरिक्त और कोई ग्रंथ अभी तक नहीं मिला। इससे यह न समझना चाहिए कि गद्य में लोग लिखा नहीं करते थे। पद्य की ओर उस समय जनता का रुझान अधिक था, किंतु लोगों की मनोवृत्ति गद्य की ओर आकर्षित हो चली थी।

आधुनिक गद्य के प्रारंभिक लेखक

इन्हीं दिनों अँगरेजों का प्रभुत्व उत्तरी भारत में स्थापित हो चुका था। इन को देशी भाषाएँ सीखने के लिए बोलचाल की भाषा में पुस्तकों की आवश्यकता प्रतीत हुई। कुछ लोगों की धारणा है कि तत्कालीन अँगरेज अधिकारियों के प्रोत्साहन से ही हिंदी-गद्य का सूत्रपात हुआ है। यह विचार भ्रम-पूर्ण है। उस समय के दो ऐसे लेखकों का पता चलता है जिन्होंने किसी के कहे सुने बिना हिंदी-गद्य में अपने मनोभाव व्यक्त किए थे। इनमें से पहले मुंशी सदासुखलाल (सं० १८०३—१८८१) थे। यह फारसी, अरबी, संस्कृत, हिंदी और उर्दू के अच्छे जानकार थे। उर्दू में इनका तखल्लुस 'नियाज' था और हिंदी में यह 'सुखसागर' उपनाम का प्रयोग करते थे। उर्दू-पद्य में इन्होंने भागवत, रामायण, प्रबोध-चंद्रोदय आदि का अनुवाद किया। हिंदी में विष्णुपुराण

मुंशी सदासुखलाल

का पद्यबद्ध भाषांतर किया। इनकी भाषा बोलचाल की खड़ी बोली है। उसमें फारसी या अरबी शब्द नहीं प्रयुक्त हुए। इनकी कोई पुस्तक अभी तक नहीं मिली। 'हिंदी भाषा सार' में उद्धृत 'सुरासुर निर्णय' और 'वार्तिक' इनके यह दो लेख अब तक मिले हैं। 'सुरासुर निर्णय' इनके श्री मद्भागवत के अनुवाद 'सुखसागर' का एक अध्याय है। उसमें से कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

धन्य कहिये राजा दधीच को कि नारायण की आज्ञा अपने सीस पर चढ़ायी, अपने हाड़ ऐसे कामी कुटिल अहंकारी को दे दिये कि उनसे उन हाड़ों को बज्र बनायकर वृत्रासुर से ज्ञानी से युद्ध किया और उसे मारा। जो महाराज की आज्ञा और दधीच के हाड़ का बज्र न होता तो ग्यारह जनम ताईं वृत्रासुर से युद्ध में सुरवर औंर प्रबल न होता और जय न पावता।

मुंशीजी की उक्त भाषा इस बात को प्रमाणित करती है कि खड़ी बोली उर्दू से स्वतंत्र होने की चेष्टा आरंभ से ही करने लगी थी। यह कहना भूल है कि उर्दू ही उन दिनों जनता की भाषा थी।

इसी भाषा में इंशा अल्ला खाँ ने अपनी 'रानी केतकी की कहानी, संवत् १८५५ और १८६० के मध्य लिखी। इंशा दिल्ली के निवासी थे। गदर के बाद लखनऊ में नवाब आसफुद्दौला के दरबारी सैयद इंशाअल्ला खाँ हुए। इनके अंतिम दिन स्वतंत्र एकांतवास में बीते। यह उर्दू-फारसी के मर्मज्ञ विद्वान् और कवि थे। इन्होंने 'हिंदी की छुट और किसी बोली की पुट' तथा 'बाहर की बोली और गँवारी भाषा से रहित 'हिंदवी भाषा' में एक

मौलिक कहानी लिखने की प्रतिज्ञा की थी। इंशा ने अपना प्रण बहुत खूबी के साथ पूरा किया। इन्होंने उक्त 'कहानी' को शुद्ध हिंदी—खड़ी बोली—में लिखने का प्रयत्न किया। उर्दू दां होने से उनकी हिंदी बड़ी चटकीली और मुहावरेदार है, उसमें उर्दू कवि की चुलबुलाहट और अनुप्रासों की भरमार है। इनके वाक्य कहीं-कहीं फारसी ढंग के हो गए हैं। जैसे—'सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया है और बात की बात में वह कर दिखाया जिसका भेद किसी ने न पाया।'

इंशा की भाषा-शैली की झलक इस अवतरण से मिल सकती है—

कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनों राज की नदियों में थे, पक्के चाँदी के थक्के से होकर लोगों को हक्क बक्क कर रहे थे। निवाड़ी, फूलनी, बाजरी, लचकी, मोरपंखी, स्यामसुंदर, रामसुंदर और जितनी ढब की नावें थीं सुनहरी, रूपहरी, किसी किसी में सौ सौ लचकें खातियाँ आतियाँ, जातियाँ ठहरातियाँ, फिरतियाँ थी। उन सभी पर खचाखच कुंजनियाँ, रामजनियाँ, डोमिनियाँ भरी हुई अपने अपने करतबों में नाचती गाती बजाती कूदती फाँदती धूमें मचातियाँ, अँगड़ातियाँ, जम्हातियाँ उँगलियाँ नचातियाँ और ढुली पड़तियाँ थीं।

इसी जमाने के लल्लूलाल जी (सं० १८२०-१८८२) के सिर पर हिंदी-गद्य को जन्म देने का सेहरा बाँधा जाता है। यह आगरे के रहनेवाले थे। बाद में कलकत्ते चले गए। वहाँ फोर्ट

विलियम कॉलेज में नौकर हुए। उसके अध्यक्ष जान गिल-क्रिस्ट के कहने पर लल्लूलाल जी ने नवागन्तुक अंग्रेज कर्मचारियों लल्लूलाल के लिए गद्य में 'प्रेम सागर' लिखा। इसमें श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध की श्रीकृष्ण-कथा है। यद्यपि 'प्रेमसागर' में प्रधानता खड़ी बोली की है, तथापि उसमें लेखक की मातृ भाषा (व्रज) का पर्याप्त पुट है। उसमें क्रियाओं के रूप वैसे हैं जैसे अब भी भागवती पंडित बोला करते हैं। 'प्रेमसागर' की भाषा में उर्दू के शब्द प्रायः नहीं आए। 'रानी केतकी की कहानी' की भाँति इसमें भी यत्र-तत्र तुकबंदियाँ आगई हैं। उस समय तक गद्य पद्य से नितांत मुक्त नहीं हो सकता था। प्रेमसागर की भाषा साफ-सुथरी है, पर उसमें कहीं लंबे लंबे वाक्य आ गए हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'सिंहासन बत्तीसी' 'बैताल पचीसी' 'शकुंतला नाटक' और 'माधोनल' नामक चार पुस्तकें और लिखी थीं। इन सबमें उर्दू का प्राबल्य है। यहाँ आपकी हिंदी का नमूना 'प्रेमसागर' से दिया जाता है —

श्री शुकदेव जी बोले—महाराज, सबकी रक्षा कर श्रीकृष्ण ग्वाल बालों के साथ में गेंदतड़ी खेलने लगे, और जहाँ काली था तहाँ चार कोस तक जमुना का जल विसके विष से खौलता था, कोई पशुपंछी वहां न जा सकता, जो भूलकर जाता सो लपट से झुलस दह में गिर पचता, और तीर में कोई रूख न उपजता। एक अविनासी कदम्ब तट पर था, सोई था।

जिन दिनों लल्लूलालजी फोर्ट विलियम कालेज की नौकरी करते हुए 'प्रेम सागर' की रचना कर रहे थे उन्हीं दिनों आरा (बिहार) के निवासी पं० सदल मिश्र (लगभग १८२४—१९०५) भी गिलक्रिस्ट साहब के ही आदेश से पौराणिक 'नासिकेतोपाख्यान' लिख रहे थे। लेकिन मिश्रजी की भाषा 'प्रेमसागर' से भिन्न है। वह न तो ब्रजभाषा से ओत-प्रोत है और न तुक मिलाने वाले पद्य-मय गद्य ही से। वह व्यवहार में आने वाली खड़ी बोली है। पर उसमें कहीं कहीं पर ब्रज और पूरबी हिंदी की झलक आ जाती है। सदल मिश्र की भाषा में मुहावरों और उर्दू के कुछ शब्दों के प्रयोग से जान आ गई है, किंतु वह मँजी न थी। इनकी भाषा का आभास इस अवतरण से मिल जायगा—

सदल मिश्र

किसी समय में ब्रह्मा के पुत्र ऐसे उद्दालक मुनि भए कि जिनके दर्शन से लोग पवित्र होते थे। वेद पुराण श्रुति स्मृति में बहुत निपुण और दाता दयालु कहिए तो वैसे ही, बड़े समर्थ, सब मुनियों में श्रेष्ठ, कि जिनका तपस्या ही धन था, उनके सुहावने आश्रम पर कि जिसको बड़े बड़े मुनि लोग नित्य आय सेवैं और जहाँ नाना प्रकार के वृक्षों पर लता छा रही थीं—पिप्पलाद मुनि आन पहुँचे।

उपर्युक्त चार लेखकों में सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा बहुत कुछ मिलती जुलतो है। उसमें आज कल के गद्य का आभास मिलता है। इंशा और लल्लूलाल की भाषा को वर्तमान गद्य का प्रथम रूप कहने में संकोच होता है। लल्लूलाल की

भाषा तो हमें विट्ठलनाथ एवं गोकुलनाथ की व्रजभाषा-सरिता का, मुहाने की ओर बढ़ता हुआ, स्वरूप प्रतीत होती है। अतः मुंशी सदासुख को, कालक्रम में प्रथम होने से, वर्तमान हिंदी गद्य का प्रथम लेखक मानना समीचीन है।

इस समय, सं० १८६० के आसपास, हिंदी गद्य-धारा की प्राण-प्रतिष्ठा हो जाने पर भी अगले प्रायः ६० वर्ष तक उसका प्रवाह रुका-सा रहा। कारण, इसी बीच मैकाले की शिक्षा-योजना के अनुसार अँगरेजी शिक्षा का प्रचार आरंभ हो गया था। इससे देशी भाषाओं को धक्का पहुँचा। लेकिन इस काल में भी ईसाई धर्म-प्रचारकों (मिशनरियों) ने अपने धर्म को इस देश में फैलाने के अभिप्राय से हिंदी का आश्रय लिया। उन्होंने अपने पूरे धर्म-ग्रंथ, बाइबिल, का अनुवाद ऐसी हिंदी में करवाया जिसे साधारण देहाती जनता भी अच्छी तरह समझ सके। ग्रामीण शब्दों का प्रयोग इन अनुवादों में बेधड़क हुआ। आगे चलकर इन लोगों ने कलकत्ता, मिर्जापुर आदि स्थानों में प्रेस खोलकर अपनी धर्म-पुस्तकों के अतिरिक्त लड़कों के पढ़ने के लिए भी कई पुस्तकें प्रकाशित कीं। अपने धर्म का हमारे बीच प्रसार करने के लिए तो अँगरेजों ने हमारी भाषा का आश्रय लिया, किंतु राजनीतिक दांव-पेंच से उन्होंने अदालतों और सरकारी दफ्तरों में उर्दू और फारसी लिपि को प्रोत्साहित किया। परिणाम यह हुआ कि हिंदी बोलचाल की भाषा रहते हुए भी उसके साहित्यिक भाषा बनने में रुकावट पड़ गई। इस भाषा-संबंधी

पक्षपात के फल स्वरूप उर्दू को उन्नति हिंदी से पहले आरंभ हो गई। संवत् १८९० में उर्दू का पहला समाचार पत्र दिल्ली से निकला। इस स्थिति में भी हिंदी के समर्थक अपनी भाषा की रक्षा में तत्पर दिखाई पड़ते हैं। राजा शिवप्रसाद ने सं० १९०२ में 'बनारस अखबार' निकाला। इसकी भाषा उर्दू थी—क्योंकि उस समय के समाचार-पत्रों के पाठक अधिकतर उर्दू जानने वाले ही होते थे—किंतु वह लिखी देवनागराक्षरों में जाती थी। बीच बीच में उसमें हिंदी के शब्द भी होते थे, किंतु उतने नहीं, जितने आजकल पंजाब के आर्य समाजी उर्दू पत्रों में होते हैं। उसकी भाषा की एक झलक देखते चलिए—

यहां जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफा ज़ाहिर हो चुका है। अब वह मकान एक आलीशान बनने का निशाना तैयार हर चेहार तरफ से होगया बल्कि इसके नकशे का बयान पहिले मुंदर्ज है सो परमेश्वर की दया से साहब बहादुर ने बड़ी तन्देही मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है।

चार-पांच वर्ष बाद काशी से 'सुधारक' निकाला गया। एक बंगाली सज्जन इसके संपादक थे। इसकी भाषा 'बनारस अखबार' से सुधरी हुई होती थी। इन्हीं दिनों सं० १९०९ में आगरे से 'बुद्धिप्रकाश' निकला। इसके संपादक मुँशी सदासुखलाल थे। इसकी भाषा की भी बानगी देख लेना चाहिए—

स्त्रियों में संतोष और नम्रता और प्रीत यह सब गुण कर्त्ता ने उत्पन्न

किए हैं, केवल विद्या की न्यूनता है जो यह भी हो तो स्त्रियां अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं, और लड़कों को सिखाना पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है वैसा दूसरों से नहीं।

इतिहास - प्रसिद्ध संवत् १९१४ के राज्यविप्लव के एक साल पहले राजा शिवप्रसाद शिक्षा - विभाग में इंसपेक्टर हुए। वह हिंदी को पुनर्जीवित करने में लगे। उन्होंने बालकों के पढ़ने के लिए स्वयं पुस्तकें लिखीं और दूसरों से भी लिखवाईं। पं० बंशीधर ने राजा साहब के कहने से 'भारतवर्षीय इतिहास', 'जीविका परिपाटी' और 'जगत बृत्तांत' नामक पुस्तकें लिखीं। राजा साहब पहले सरल हिंदी के समर्थक थे। वे कहते थे कि 'जहां तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज ग़ैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिए और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नये नये ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिए।' राजा साहब यद्यपि 'आम फहम व खास पसंद' भाषा लिखने की ताईद करते हैं तथापि आगे चलकर उन्होंने अपने 'इतिहास तिमिर नाशक' आदि अन्य ग्रंथ ऐसी भाषा में लिखे हैं जिसे हिंदी कहने में हिचकिचाहट होती है। राजा साहब की भाषा का अनुमान इस अवतरण से किया जा सकता है—

मुसलमान घमंड के मारें अपनी रअय्यत की ज़बान में बात चीत करना बेशक शर्मिन्दगी और बे इज्जती का कारण समझते होंगे, लेकिन उनके महल हिंदुओं की लड़कियों से भरे थे। और उन्हें रात दिन काम ऐसे हिंदुओं से पड़ा करता था जो फ़ारसी से कब वाक़िफ़ थे। यह घमंड धीरे धीरे कम हो गया।

स्वामी दयानंद सरस्वती

इन्हीं दिनों, आगे चलकर आर्य-समाज के संस्थापक, स्वामी दयानंद (सं० १८७१-१९४०) का प्रादुर्भाव हुआ। संस्कृत के प्रकांड पंडित और गुजराती होने पर भी स्वामीजी ने अपने धर्म को लोक-व्यापी बनाने के विचार से हिंदी का आश्रय लिया। वे बहुत अच्छे वक्ता और लेखक थे। उन्होंने वाणी और लेखनी दोनों से हिंदी के उद्धार और प्रचार में प्रशंसनीय योग दिया। आर्य-समाजियों के लिए 'आर्यभाषा' का जानना इन्होंने अनिवार्य कर दिया। पंजाब में स्वामीजी का अत्यंत प्रभाव था। उस उर्दू के अड्डे में हिंदी की वैजयंती फहराकर स्वामी दयानंद ने बहुत बड़ा काम किया। स्वामीजी ने वेदों के भाष्य, नित्यकर्म के ग्रंथादि के अतिरिक्त अपने मुख्य ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' को हिंदी में ही लिखा। इनकी भाषा में स्वभावतया कुछ गुजराती की झलक देख पड़ती है। फिर भी स्वामीजी की हिंदी प्रायः विदेशी शब्दों से रहित है। स्वामीजी की हिंदी नीचे के पत्र में देखिए। यह उन्होंने उपर्युक्त राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद को लिखा था—

आपका पत्र मेरे पास आया, देखकर अभिप्राय जान लिया। इससे मुझको निश्चय हुआ कि आपने वेदों से लेकर पूर्व मीमांसा पर्यंत विद्या-पुस्तकों के मध्य में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ संबंधों को जाना नहीं है। इसलिए आपको मेरी बनायी भूमिका का अर्थ भी ठीक ठीक विदित न हुआ।

जिन दिनों उपरि-उल्लिखित राजा शिवप्रसाद जनता की

अस्वाभाविक भाषा को जबरदस्ती 'आम फहम' की जबान कह रहे थे उन्हीं दिनों आगरे में एक दूसरे सरकारी पदाधिकारी वास्तविक हिंदी का चित्र अंकित कर रहे थे।

राजा लक्ष्मणसिंह

राजा लक्ष्मणसिंह (सं० १८८३—१९५३) ने पहले १९१८ में 'प्रजा-हितैषी' पत्र निकाला। फिर कालिदास के जगद्विख्यात 'अभिज्ञान शाकुंतल' का, १९१९ में, गद्यानुवाद किया। आगे चलकर श्लोकों को पद्य में अनूदित कर गद्य-पद्य मयी मनोहर रचना प्रस्तुत की। कुछ दिनों के अनंतर आपने 'रघुवंश' का भी भाषांतर किया। इनका गद्य शुद्ध खड़ी बोली में होता था। उसके वाक्यों की गठन प्रौढ़ और उत्तम होती थी। उसमें उर्दू शब्दों का पूर्ण वहिष्किार सा है। राजा साहब के गद्य में हमें आधुनिक गद्य की झलक दिखाई पड़ती है। यह इस प्रकार का गद्य लिखा करते थे—

याचक तो अपना अपना वांछित पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं परंतु जो राजा अपने अंतःकरण से प्रजा का निर्धार करता है, नित्य चिंता ही में रहता है। पहले तो राज्य बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है, फिर जो देश जीतकर वश किये जाते हैं उनकी प्रजा के प्रति-पालन का नियम दिन रात मन को विकल रखता है।

ऊपर जिन चार-पांच आधुनिक हिंदी गद्य के प्रारंभ करने वाले सज्जनों का नाम दिया जा चुका है उनके अवतरणों को

भारतेंदु का उदय

देखने से पता लग गया होगा कि उन सबकी शैली और भाषा में भिन्नता थी। कोई खड़ी-बोली में पंडिताऊपन का

पुट रखता था, कोई व्रज-भाषा की कोमल-कांत पदावली का सौंदर्य दिखलाता था, कोई पूर्वी-भाषा के प्रभाव से मुक्त न था, कोई हिंदी का हिमामती होते हुए भी उसे उर्दू बीवी के लिबास से सजाता था और कोई बहुत संभालने पर भी अपनी खड़ी-बोली में व्रजभाषा की झलक लाने से नहीं बच सकता था। अब हमारे इतिहास में संवत् १९१४ के राज्य-विप्लव के पश्चात् का समय आ गया था। अंगरेजी राज्य की नींव भारत में दृढ़ हो गई थी। वृटिश शासक अपने राज्य को प्रत्येक दिशा में संगठित कर रहे थे। जनता में भी इन दिनों राष्ट्रीय भावना जागृत हो चुकी थी। राजनीतिक स्वार्थ वश सरकार तथा अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए जनता देशी भाषाओं के उद्धार करने में प्रवृत्त हुई। इस समय यह आवश्यकता थी कि हिंदी गद्य का एक ऐसा रूप निश्चित हो जाय जिसमें पढ़े-लिखे लोग अपने मनोभाव व्यक्त करें। यह काम किसी साधारण लेखक के बूते का न था। सौभाग्य से इसी समय, काशी में, हरिश्चंद्र (संवत् १९०७—१९४१) का आविर्भाव हुआ। इनके पिता बाबू गोपालचंद्र व्रज-भाषा के सुकवि और नाटककार थे। इनके संसर्ग से हरिश्चंद्र की रुचि बाल्यावस्था से ही साहित्य की ओर झुक गई। यों तो नौ वर्ष की अवस्था से ही यह कविता करने लगे थे, पर सोलह वर्ष के होने पर इनकी भाषा में ओज, प्रसाद और माधुर्य की पर्याप्त मात्रा रहने लगी। इन्होंने कई क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा प्रदर्शित

की। संवत् १९२५ में इन्होंने बँगला से अनुवाद करके 'विद्यासुंदर नाटक' प्रकाशित किया। इसमें इनके परिमार्जित गद्य का दर्शन हुआ। फिर 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चंद्र मैगजीन' (जो कुछ दिन बाद 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' हो गया) आदि मासिक पत्र निकाले। १९३० में उनकाप्रथम मौलिक प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' मुद्रित हुआ। फिर धीरे-धीरे 'कर्पूर मंजरी', 'सत्य हरिश्चंद्र', 'भारत दुर्दशा', 'अंधेर नगरी', 'नील देवी' 'चंद्रावली', इत्यादि नाटक-नाटिका लिखे गए। इन नाटकों में ब्रजभाषा की सरल कविता और खड़ी बोली का सुसंबद्ध गद्य लिखने के अतिरिक्त हरिश्चंद्र ने हिंदी में इतिहास लिखना प्रारंभ किया। 'काश्मीर-कुसुम', 'बादशाह दर्पण' आदि कुछ थोड़े से इतिहास ग्रंथ लिख पाये ही थे कि अकाल ही काल-राहु ने भारतेंदु को ग्रस लिया। अपने ३४ वर्ष के जीवन एवं १८ वर्ष के साहित्यिक जीवन में हरिश्चंद्र ने हिंदी के लिए वह काम किया जो सैकड़ों वर्ष जीने पर भी अधिकांश लोग नहीं कर पाते। उन्होंने वर्तमान हिंदी गद्य की धाराओं को कई दिशाओं में बहने देने से रोक कर एक राज-मार्ग में लगा दिया। इसीलिए लोग भावावेश में उनको आधुनिक हिंदी गद्य का पिता तक कह डालते हैं। इन महापुरुष की भाषा साफ-सुथरी, मँजी हुई, ग्रामीणता से रहित और प्रभावशालिनी होती थी। इनकी भाषा में दो प्रकार की शैलियाँ दिखलाई पड़ती हैं। एक को हम विक्षिप्त या प्रलाप शैली कह सकते हैं। इसमें भाषा जोरदार

है, वाक्य छोटे-छोटे हैं, बोल-चाल के शब्द प्रयुक्त हुए हैं, एकाध स्थान पर तो उर्दू के प्रचलित शब्द आगए हैं और कहीं-कहीं शब्दों की पुनरुक्ति हो गई है। यह हृदय के मार्मिक भाव अंकित करने के लिए लिखी गई है। 'चंद्रावली नाटिका' की भाषा इस शैली का उदाहरण है। दूसरी शैली सिद्धांत निरूपण-संबंधी ग्रंथों में दिखाई पड़ती है। इसमें भाषा संयत, विचार-पूर्ण और गंभीर है। इस शैली में कहीं-कहीं पर संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग किया गया है। 'प्रेम योगिनी' और 'नील देवी' में इनकी यह शैली देखी जा सकती है।

हरिश्चंद्र स्वयं तो हिंदी के परम पोषक थे ही उनके प्रभाव से उनके चारों ओर बहुत से अच्छे लेखकों की मंडली तैयार हो गई थी। इस समय कई सुंदर पत्र भी निकलने लगे थे इनमें से उल्लेखनीय 'विहार बंधु' 'भारत बंधु' 'हिन्दी प्रदीप'

भारतेंदु के समकालीन अन्य लेखक

'आनंद कादंबिनी' 'पीयूष प्रवाह' 'ब्राह्मण' 'भारतजीवन' और (कुछ आगे चलकर) 'भारतेंदु' हैं। तत्कालीन लेखकों में कुछ ये थे—बद्रीनारायण चौधरी, प्रताप-नारायण मिश्र, तोताराम बी. ए., जगमोहन सिंह, श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, केशवराम भट्ट और राधाचरण गोस्वामी। इन्होंने पद्य के अतिरिक्त नाटक, उपन्यास, निबंध आदि भी लिखे। इनमें पंडित बालकृष्ण भट्ट (सं १९०१-१९७१) गद्य में भारतेंदु-शैली के

बालकृष्ण भट्ट

समर्थक थे। उनकी भाषा में यत्र-तत्र बैसवाड़ी और पूर्वी हिंदी के शब्द आए हैं। अपने भावों को व्यक्त करने

के लिए यह कहीं-कहीं अंगरेजी शब्दों का बेधड़क प्रयोग करते थे। मुहावरों में इनकी विशेष रुचि थी। इनकी भाषा में हास्य की मात्रा भी पर्याप्त होती थी। उन्होंने संवत १९३४ में 'हिंदी प्रदीप' (मासिक पत्र) निकाला। उसमें सामाजिक, राजनीतिक एवं साधारण जीवन संबंधी विषयों पर अनेक लेख लिखे। भट्टजी ने 'सौ अजान और एक सुजान' तथा 'नूतन ब्रह्मचारी' नामक दो छोटे छोटे उपन्यास भी लिखे थे। इनके लेखों के शीर्षक बड़े आकर्षक हुआ करते थे।

अलीगढ़ के वकील बाबू तोताराम ने (सं० १९०४-१९५९) भारतेंदु के साथ हिंदी का पक्ष बड़े जोर से लिया था। तोताराम, बी. ए. 'भारतबंधु' पत्र निकालने वाले यही थे। 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' में लिखते हुए आपने कई नाटक लिखे थे। उनमें 'कीर्तिकेतु' स्वतंत्र और 'केटो कृतांत' अनूदित हैं। इनके गद्य में व्रजभाषा के एकाध शब्द आ जाते थे। 'कीर्तिकेतु' की कुछ अवलियों का गद्य देखिए—

मेरे पिता ने आज इस स्थान में एक छोटी सी सभा इकट्ठी की है; इसमें वे सब महाशय विद्यमान हैं जो फाल्गुनी नगरी में घोर युद्ध से शेष बचे थे। हमारे पिता की इस सभा से यह अनुमति लेने का विचार है कि उस प्रबल शत्रु सिसुमार का, जो रामावतीपुरी को रक्षक ग्राम देवताओं समेत नष्ट करता चला आता है, सामना करना उचित है वा निदान सब उसको छोड़कर बैठ जाते हैं।

इसी युग में मारवाड़ी वैश्य लाला श्रीनिवासदास

(सं० १९०८-१९४४) व्यापारिक कार्यों से समय निकालकर श्रीनिवासदास अपने साहित्य-प्रेम का परिचय दिया करते थे। इन्होंने 'रणधीर-प्रेममोहिनी' 'संयोगिता-स्वयंवर' और 'तप्तावरण' नाटक और 'परीक्षा गुरु' उपन्यास लिखे थे। इनकी रचनाओं में सांसारिक अनुभव की बातों का विशद विवेचन है। इन्होंने मुहावरों का प्रयोग दिल खोलकर किया है। इनकी भाषा में प्रौढ़ता है। उसमें उर्दू शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन्होंने अँगरेजी शैली का अनुसरण करके वक्ता के कथित वाक्यों के अंत में 'अमुक ने कहा' 'वह बोले' के-से प्रयोग किए हैं। हिंदी में इस शैली का अनुसरण अब भी वियोगीहरि, उग्र आदि किया करते हैं। इसका उदाहरण देखिए—

"आपके कहने मूजिब किसी आदमी को बातों से उसका स्वभाव नहीं जाना जाता, फिर उसका स्वभाव पहचानने के लिये क्या उपाय करें ?" लाला मदनमोहन ने तर्क की।

"उपाय की करने की कुछ ज़रूरत नहीं है, समय पाकर सब भेद अपने आप खुल जाता है" लाला ब्रजकिशोर कहने लगे। "मनुष्य के मन में ईश्वर ने अनेक प्रकार की वृत्तियां उत्पन्न की हैं, जिनमें परोपकार की इच्छा, भक्ति और न्यायपरता धर्म प्रवृत्ति में गिनी जाती है।"

इन लोगों से भिन्न लेखन-शैली के प्रतिपादक मिर्जापुरी 'प्रेमघन' जी (सं० १९१२-१९८०) थे। कवि होने से इन्हें सानुप्रास बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और अनूठी पदावली-पूर्ण भाषा से अत्यंत प्रेम था। इस कारण कहीं-कहीं इनके वाक्य बहुत लंबे

होकर अस्पष्ट तक हो जाते थे। 'आनंद-कादंबिनी' (मासिक) और 'नागरी नीरद' (साप्ताहिक) के जन्मदाता यही थे। इनमें विशेषतया इन्हीं के लेख रहा करते थे। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'भारत सौभाग्य' और 'वारांगना रहस्य' (अपूर्ण) नाटक भी लिखे थे। चौधरी जी समालोचक भी थे। इन्होंने लाला श्री निवासदास के 'संयोगिता स्वयंबर' की बड़ी तीव्र आलोचना की थी। हिंदी में समालोचना का आरंभ इन्हीं से समझना चाहिए।

हरिश्चंद्रजी के एक और अनन्य भक्त और मित्र कानपुर-निवासी प्रतापनारायण मिश्र (सं० १९१३—१९५१) थे। प्रतापनारायण मिश्र इन्होंने अपनी भाषा में बैसवाड़े की ग्रामीण कहावतें और शब्दावली का धड़ल्ले से प्रयोग किया। इनके गद्य एवं पद्य के प्रायः सब लेख हास्यातिरेक से बड़े रुचिकर होते थे। इन्होंने जीवन के भिन्न-भिन्न व्यापारों से संबंध रखने वाले विषयों पर लेख लिखे हैं। यह बड़े फक्कड़ थे। इनकी भाषा-शैली भी अपने ढंग का विचित्र मस्तानापन लिये हुए है। गंभीर विषयों पर इन्होंने बड़ी मर्यादित और शिष्ट भाषा का प्रयोग किया है। लेकिन इनका गद्य प्रायः हँसी का आगार रहता था। उसमें जिंदादिली थी, ओज था, और थी मिश्रजी के व्यक्तित्व की छाप। इन्होंने बहुत से स्वतंत्र और बँगला से अनूदित ग्रंथों की रचना की।

भारतेंदु-मंडल में इनके अतिरिक्त भी कई देदीप्यमान नक्षत्र थे। केशवराम भट्ट ने बिहार में अपने 'बिहारबंधु' से

कुछ अन्य लेखक हिंदी की अच्छी सेवा की थी । इनके 'शमसाद शौसन' तथा 'सज्जादसंबुल' नामक नाटकों में उर्दू का प्राबल्य है। राधाचरण गोस्वामी ने 'भारतेंदु' निकालकर हरिश्चंद्र की कीर्ति को स्थायी बनाने का प्रयत्न किया। उसमें इनके बहुत-से अच्छे लेख निकले थे इनका गद्य भारतेंदु के गद्य का-सा होता था। रामशंकर व्यास ने ही हरिश्चंद्र को भारतेंदु की उपाधि देने का प्रस्ताव पहले-पहल उठाया था। इनकी भाषा में ओज की मात्रा अधिक होती थी। इन्होंने कई वस्तुओं के श्लेषात्मक वर्णन बड़े सुंदर किए हैं। मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या पुरातत्व और इतिहास के पंडित थे। इन्होंने 'रासो की संरक्षा' लिख कर पृथ्वीराज रासो को चंद का असली ग्रंथ सिद्ध करने की चेष्टा की थी।

ऊपर कह चुके हैं कि भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में भिन्न भिन्न स्थानों से कई पत्रिकाएँ निकली थीं। हिंदी गद्य के भिन्न सिंहावलोकन भिन्न क्षेत्रों में लोग उतर पड़े थे। बँगला के कई उत्तम उत्तम उपन्यासों का भाषांतरित होना प्रारंभ हो गया था। 'महाराणा प्रताप' नामक मौलिक नाटक लिखने वाले राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', प्रतापनारायण ने 'राजसिंह', 'इंदिरा' 'राधारानी' आदि, और राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा' 'जावित्री' 'मृणमयी' आदि का बँगला से अनुवाद किया। बालकृष्ण भट्ट के उपन्यासों का उल्लेख हो चुका है। नाटकों की रचना में जैसा ऊपर कह चुके हैं, भारतेंदु के अतिरिक्त श्रीनिवासदास, प्रेमघन, राधाचरण, अंबिकादत्त व्यास, तोताराम, आदि विद्वान दत्तचित्त थे।

गद्य-प्रबंध भी 'आनंद-कादंबिनी', 'ब्राह्मण' 'हिंदी प्रदीप' इत्यादि पत्रों में बहुत निकलते थे।

इस प्रकार हिंदी-सरिता की धारा बहुत चौड़ी हुई दिखाई पड़ती है। हर क्षेत्र को सींचने के लिए उसकी धाराएँ फूट नवयुग का आरंभ निकलीं। किंतु अब भी भाषा के गठन की दृष्टि से उसमें कुछ सुधार होने की आवश्यकता थी। भारतेंदु के प्रभाव से अधिकांश पढ़े-लिखे लोगों में हिंदी के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया था। उनमें से कुछ उच्च-शिक्षा-प्राप्त लोगों ने हिंदी में लिखना भी आरंभ कर दिया था। परंतु उनमें से कुछ की भाषा पूर्णतया निर्दोष नहीं कही जा सकती। वे यह नहीं समझते थे कि हिंदी के लिए भी व्याकरण के नियमों का पालन आवश्यक था। इस बात की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करनेवाले आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (जन्म सं० १९२१) हैं। द्विवेदी जी पहले रेल के दफ्तर में नौकरी करते हुए साहित्य सेवा करते थे, फिर उसे छोड़कर पूर्णरूप से साहित्य सेवी बन गए। उन्होंने १९०३ में 'सरस्वती' का संपादन कार्य ग्रहण किया। 'सरस्वती' में व्याकरण के नियमों की अवहेलना करनेवालों की कृतियों की बड़ी कड़ी अलोचना करके द्विवेदीजी ने लेखकों के कान खड़े किए। इसी बीच विभक्तियों को शब्द से सटाकर अथवा हटाकर लिखने पर बड़ी चखचख उठ खड़ी हुई थी। यह समस्या अब तक हल नहीं हुई। हिंदी गद्य का प्रारंभिक रूप परिमार्जित करके उसे साधु-भाषा का रूप देने का जिस

प्रकार भारतेंदु हरिश्चंद्र ने स्तुत्य काम किया है उसी प्रकार उनके पश्चात् आचार्य द्विवेदी जी ने अपनी 'सरस्वती' के द्वारा उसको सजाया और सैकड़ों अन्य लेखकों को इस कार्य के योग्य बनाया। अब हिंदी लेखकों की संख्या की वृद्धि के साथ उनके लेख्य विषयों की सीमा भी अधिक विस्तृत हुई और कई प्रकार की लेखन-शैलियां भी दृग्गोचर होने लगीं। विषय-विस्तार के कारण हमारी भाषा की भावाभिव्यंजन-शक्ति बढ़ी। अंगरेजी, बंगला आदि की देखा-देखी भाषा की ऊपरी सफाई और सजावट के लिए विराम चिन्हों का प्रयोग होने लगा। मुद्रण-यंत्रों की उन्नति ने भी हिंदी की बाहरी वेष-भूषा को सुसज्जित करने में बहुत योग दिया।

कहा जा चुका है कि अब हिंदी का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो चला। नाटक, उपन्यास, निबंध, समालोचना इत्यादि के अतिरिक्त इतिहास, विज्ञान, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, पुरातत्व, भ्रमण, जीवन चरित्र, शिक्षा आदि अनेक विषयों पर सुंदर रचनाएँ होने लगीं। इन रचनाओं में मौलिक, अन्य भाषाओं से अनूदित एवं उनके आधार पर लिखित सभी प्रकार की पुस्तकों का समावेश है। इन भिन्न-भिन्न विभागों की अद्यावधि उन्नति तथा प्रगति दिखाने के लिये हम हरेक पर अलग-अलग विचार करेंगे।

सबसे पहले नाटक को लीजिए। कहा जाता है हिंदी का सब से प्रथम नाटक भारतेंदु के पिता गोपालचंद्र का 'नहुषनाटक' है।

यह व्रजभाषा में है। इसके बाद राजा लक्ष्मणसिंह कृत शकुंतला का नाटक अनुवाद निकला। फिर भारतेंदु हरिश्चंद्र मौलिक तथा अनूदित नाटकों की रचना करके हिंदी के वास्तविक सर्व प्रथम नाटककार हुए। यही हिंदी नाटकों के जनक हैं। फिर इनके समकालीन श्रीनिवास दास के रणधीर प्रेम मोहिनी, केशवराम भट्ट के सज्जाद संबुल, बदरीनारायण चौधरी के भारत सौभाग्य का अवतार हुआ। तोताराम जी, बालकृष्ण भट्ट अथवा अम्बिकादत्त व्यास कृत नाटक आकार में बड़े होने से अभिनय के योग्य न हुए। राधाकृष्ण दास, प्रतापनारायण, राधाचरण गोस्वामी के किए हुए अनुवादों का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है। काशी के बाबू रामकृष्ण वर्मा ने बँगला से 'वीरनारी', 'पद्मवती', 'कृष्णकुमारी' आदि कई नाटकों के अनुवाद किए। आगे चलकर तिलिस्माती उपन्यास लेखक बा० गोपालराम गहमरी ने संवत् १९५७ के पूर्व विद्याविनोद, देशदशा, बभ्रुवाहन तथा चित्रांगदा बँगला से हिंदी को भेंट किया। पुरोहित गोपीनाथ एम. ए., ने शेक्सपियर के कुछ नाटकों के अनुवाद किए। इसके पहले ही अवधवासी (अब राय बहादुर) लाला सीताराम (भूपकवि) बी. ए. ने संस्कृत के नाटकों का अनुवाद करना आरंभ कर दिया था। संवत् १९४० में उनका 'हिंदी मेघदूत' छपा। तदनंतर उन्होंने धीरे-धीरे नागानंद, मृच्छकटिक, महाबीर चरित, उत्तर राम चरित, मालती माधव और मालविकाग्निमित्र भी अनूदित किए। पद्यों के अनुवाद में लालाजी विशेष

सफल नहीं हुए। इन्हीं लालाजी ने शेक्सपियर के बहुत से नाटकों का भी हिंदी में अनुवाद किया। इन अनुवादों के गद्य भाग बहुत सरल हिंदी में हैं। संवत् १९७० में आगरा-निवासी कविरत्न सत्यनारायण ने भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' का और कुछ दिन बाद उन्हीं के 'मालती-माधव' का अत्यंत सुंदर अनुवाद किया। इनके पद्यानुवाद बहुत सरस हैं। गद्य-भाग भी कविरत्नजी ने अच्छी तरह अनूदित किया है। इसी बीच कानपुरी रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' ने 'चंद्रकला-भानकुमार' नामक मौलिक नाटक लिखा। यह नाटक अभिनय के योग्य नहीं है। किंतु इसमें साहित्यिक दृष्टि से उत्तम कथोपकथन और मनोरम पद्य हैं। रूपनारायण पांडेय, नाथूराम प्रेमी आदि ने गिरीशघोष, बंकिमचंद्र चटर्जी, तथा द्विजेंद्रलाल राय के कई प्रसिद्ध बंगला नाटकों के अनुवाद किए। इसी प्रसंग में रंगमंचों पर खेलने के निमित्त लिखने वाले नाटककारों का स्मरण करते चलना चाहिए। व्याकुल भारत नाट्य समिति के संचालक स्वर्गीय विश्वंभरनाथजी 'व्याकुल' के नाटकों ने मौलिक हिंदी के जोरदार नाटकों की थोड़े दिन तक धूम मचा दी थी। उनका गौतम बुद्ध एक उच्चकोटि का अभिनय-योग्य नाटक है। संवत् १९६९ में पंडित नारायणप्रसाद 'बेताव' ने 'महाभारत' लिखा। इसे पारसी अलफ्रेड थियेट्रिकल कंपनी ने खेला। कदाचित यही पहला हिंदी नाटक है जिसे व्यवसायी कंपनियों ने जनता को

खेलकर दिखाया। कुछ दिन इसकी बड़ी धूम रही। इसके वाद वेताब जी ने रामायण, पत्नी-प्रताप, कृष्ण-सुदामा, गणेश-जन्म आदि पौराणिक नाटक लिखे। आगा हश्र का भक्त सूरदास भी उल्लेख्य है। रंगमंच पर इसे भी बड़ी सफलता मिली। पं० राधेश्याम कथा-वाचक ने व्यवसायी कंपनियों के लिए कई नाटक लिखकर धन और प्रसिद्धि प्राप्त की है। इनके नाटकों में वीर अभिमन्यु, परमभक्त प्रह्लाद, श्री कृष्ण-अवतार, तथा रुक्मिणी-मंगल विशेष प्रसिद्ध हैं। हरिकृष्ण जौहर ने पति-भक्ति नामक बहुत सफल सामाजिक नाटक लिखा। पं० तुलसीदत्त 'शैदा' के भी कई नाटक खेले जाते हैं। इनका 'कृष्णचरित' अच्छा है। इन लोगों ने पारसी रंगमंच पर उर्दू के स्थान पर हिंदी को आसीन कर प्रशंसनीय कार्य किया। पं० माधव शुक्ल ने यद्यपि व्यवसायी लोगों के खेलनेके लिए नाटक नही लिखे, परन्तु उनके महाभारत' ने अपने समय में लोगों का पर्याप्त मनोरंजन किया था।

आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ नाटककार कहे जाने वाले बा० जयशंकर प्रसाद ने कई सुंदर मौलिक नाटक लिखे हैं। कामना, जनमेजय का नाग यज्ञ, विशाख, राज्यश्री, अजातशत्रु स्कंद-गुप्त तथा चंद्रगुप्त, इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति का ओजस्वी कविता मय भाषा में प्रदर्शन करके प्रसाद जी ने अभिनंदनीय कार्य किया है। इतिहास और कल्पना के योग से प्रस्तुत इन नाटकों में श्रव्यकाव्य के

लक्षण तो हैं, पर अभिनय के योग्य न होने से इन्हें दृश्य काव्य कहलाने का गौरव नहीं मिल सका। पं० बदरीनाथ भट्ट की 'दुर्गावती' और पं० गोविंद वल्लभ पंत की 'वरमाला' दो अभिनय के योग्य मौलिक रचनाएँ भी थोड़े दिन हुए हमारे सामने आई हैं। पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्रीवियोगी हरि, उग्र, आनंदिप्रसाद श्रीवास्तव, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद आदि ने भी दो-एक नाटक लिखे हैं। इन लोगों के अतिरिक्त अन्य लोगों ने भी इस ओर ध्यान दिया है। नाटकों के साथ नाट्यशास्त्र पर ग्रंथों का लिखा जाना अनिवार्य सा है। आचार्य द्विवेदी जी के छोटे से किंतु आरंभिक 'नाट्यशास्त्र' नामक निबंध के अनंतर अध्यापक श्यामसुंदरदास का 'रूपक रहस्य' इस विषय का उत्तम लक्षण ग्रंथ है। आशा है कि निकट भविष्य में हिंदी में शेक्सपियर, डी. एल. राय या गिरीश घोष जैसे नाटककार उत्पन्न होंगे।

भारतेंदु के बाद से लेकर अबतक जितनी रचना—मौलिक एवं अनूदित—उपन्यासों की हुई है, उतनी और किसी विषय के ग्रंथों की नहीं। ला० श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरु' का उल्लेख हो चुका है। बँगला के नाटकों से भी अधिक उसके उपन्यास हिंदी में भाषांतरित किए गए हैं। उपन्यास-अनुवादकों में गदाधर सिंह, रामकृष्ण वर्मा और कार्तिकप्रसाद खत्री के नाम पहले आते हैं। इन लोगों की भाषा में हिंदीपन ही विशेष था; उसमें उर्दू, फारसी या संस्कृत का बहुत

उपन्यास

कम लगाव था। इनके बाद बा० गोपालराम गहमरी ने बँगला से कई घरेलू विषयों से संबंध रखने वाले उपन्यासों का उल्था किया। इनमें से कुछ के नाम ये हैं—'देवरानी जेठानी', 'तीन पतोहू', 'बड़ा भाई'। पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय ने भी इसी बीच 'वेनिस का बांका' उर्दू से अनूदित किया था। इसकी भाषा संस्कृत-मयी है। पं० रूपनारायण पांडेय ने बहुत से प्रसिद्ध बँगला उपन्यासों के अनुवाद करने में बहुत दिनों से लग्गा लगा रखा है। इन्होंने सबसे अधिक अनुवाद किए हैं। पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने भी अपने थोड़े समय के जीवन में कई उपन्यासों के अनुवाद किये थे और इधर बा० धन्यकुमार जैन ने कई हास्यपूर्ण उपन्यासों के अनुवाद किए हैं। बंकिम बाबू, रमेशचंद्र दत्त, चंडी चरण, शरच्चंद्र, रवींद्र नाथ, राखालदास आदि प्रायः समस्त ख्यात-नामा बंगाली उपन्यासकारों की कृतियां अनूदित हो चुकी हैं। पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी और बा० रामचंद्र वर्मा ने उषाकाल आदि कई मराठी उपन्यासों का तथा पं० गिरधर शर्मा नवरत्न ने सरस्वतीचंद्र, जयाजयंत आदि गुजराती उपन्यासों के अनुवाद किए हैं। रूसी, फ्रेंच, और अंगरेजी के उपन्यासों का अनुवाद करनेवालों में बा० रुद्रनारायण अग्रवाल, पं० छबिनाथ पांडेय, श्री प्रेमचंद आदि का नामोल्लेख आवश्यक है। इस प्रकार भारतीय और विदेशी भाषाओं के प्रसिद्ध उपन्यास धड़ल्ले से हिंदी में आ रहे हैं।

मौलिक उपन्यासकारों में देवकीनंदन खत्री सब से पहले हैं। इन्होंने 'कुसुमकुमारी' 'वीरेंद्रवीर' आदि कई उपन्यास पहले-पहल लिखे। किंतु इनकी विशेष प्रसिद्धि 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' नामक दो बड़े ऐयारी और तिलिस्म के उपन्यासों से है। हिंदी-उर्दू मिश्रित भाषा में कुतूहल बढ़ानेवाली घटनाओं से परिपूर्ण इन उपन्यासों की कुछ दिन बड़ी धूम रही। मौलिक उपन्यासकार पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने साहित्यिक, सामाजिक आदि भिन्न-भिन्न विषयों पर कुल मिलाकर ६५ उपन्यास लिखे हैं। इनके कुछ उपन्यास ये हैं—चपला, लखनऊ की कब्र, गुलबहार, लीलावती, राजकन्या, सेज पर साँप, आरसी में हीरे की कनी, इसे चौधराइन कहें की डाइन ? और शांति कुटीर। इन उपन्यासों में चरित्र-चित्रण उच्चकोटि का नहीं हुआ, और न भाषा संबंधी स्थिरता ही दिखाई पड़ती है, किसी में उर्दू-ए-मुअल्ला है तो किसी में संस्कृत पूर्ण हिंदी। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने सं० १९५६ में 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और १९६४ में 'अधखिला फूल'—यह दो मौलिक उपन्यास लिखे। इनकी औपन्यासिक कला का नहीं वरन् सरल भाषा का अधिक महत्व है। मेहता लज्जाराम शर्मा ने भी 'धूर्त रसिकलाल', 'आदर्श दंपति', 'आदर्श हिंदू' आदि कई उपन्यासों में प्राचीन हिंदू संस्कृति का अच्छा चित्र दिखाया है। बा० ब्रजनंदन सहाय बी०ए०, के 'सौंदर्योपासक' और 'राधाकांत' में शुद्ध साहित्यिक ढंग से मानसिक विचारों का काव्यमय वर्णन है। इन लोगों के अनंतर आधुनिक युग के

सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार बाबू धनपतराय बी० ए० (जन्म सं० १९३७) ने उर्दू को छोड़कर हिंदी में लिखना आरंभ किया। यह अपने वास्तविक नाम से नहीं किंतु 'प्रेमचंद' नाम से अमर रहेंगे। प्रेमचंदजी के उपन्यासों में कला की दृष्टि से 'सेवासदन' सर्वोत्तम है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'गबन' इनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। प्रेमचंद जी ने मानव प्रकृति का अत्यंत स्वाभाविक यथातथ्य वर्णन करने में कमाल कर दिया है। इनके वर्णन वर्ण्य-विषय का चित्र खींच देते हैं। इनकी भाषा अधिक-तर बोलचाल की सरल एवं सरस है, उसमें प्रति दिन प्रयोग में आने वाले मुहावरों की अच्छी पुट रहा करती है। इस युग के दूसरे उदीयमान लेखक थे चंडीप्रसाद 'हृदयेश' (जन्म सं० १९५६) यह थोड़ी आयु में ही, कुछ वर्ष बीते मर गए। इससे इनकी मौलिक प्रतिभा का पूर्ण विकास दिखाई न दे सका। इनके उपन्यासों में 'मंगल प्रभात' विशेष उल्लेखनीय है। इनकी भाषा में संस्कृतपन अधिक रहता है और उसमें काव्य का सा आनंद आ जाता है। जयशंकरप्रसाद का 'कंकाल' भी उत्तम उपन्यास है। उग्र ने 'इंद्रधनुष', 'बुधुआ की बेटी' आदि कई सामाजिक उपन्यास लिखे हैं। इनकी भाषा बड़ी जोरदार है। वृंदावनलाल वर्मा को हिंदी का एक मात्र ऐतिहासिक उपन्यासकार कहना चाहिए। पं० इलाचंद जोशी तथा पंडित विश्वंभरनाथ कौशिक ने भी हाल में कुछ उपन्यास लिखे हैं। इनका चरित्र-चित्रण सुंदर है। इनके अतिरिक्त अन्य कई उपन्यासकार अपनी कृतियों से हिंदी

का भंडार भर रहे हैं।

कहानी आजकल हम लोगों को इतने अधिक काम रहते हैं कि 'चंद्रकांता संतति' जैसे विशालकाय उपन्यासों के पढ़ने के लिए हममें न तो धैर्य ही होता है और न हमारे पास इस काम के लिए समय ही रहता है। इसलिए अंगरेजी तथा बंगला की देखा-देखी हिंदी-मासिक पत्रिकाओं से भी 'गल्पें' अथवा छोटी-छोटी कहानियाँ इस शताब्दी के आरंभ में निकलने लगीं। 'सरस्वती' में उसके जन्मकाल के कुछ दिनों के पश्चात् ही स्वर्गीय गिरिजाकुमार घोष ने 'पार्वती-नंदन' नाम से आख्यायिकाएँ लिखना आरंभ किया था। फिर तो बहुत से अन्य लोगों ने भी मौलिक तथा अन्य भाषाओं से अनूदित कहानियाँ लिखना प्रारंभ कर दिया। आजकल कोई भी ऐसी मासिक पत्रिका नहीं निकलती जिसमें दो एक कहानियाँ न हों। साप्ताहिक एवं दैनिक पत्रों तक में प्रायः छोटी-छोटी कहानियाँ अब छपा करती हैं। कुछ लोग अब बहुत सुंदर आख्यायिकाएँ लिखते हैं। प्रेमचंद जी को छोटी-छोटी कहानियाँ लिखने में उपन्यास-लेखन से अधिक सफलता मिली है। उन्होंने सैकड़ों कहानियाँ लिखी हैं, और बराबर लिखा करते हैं। यह स्वाभाविक चरित्रांकन में बड़े पटु हैं। पं० ज्वालादत्त, पं० विश्वंभरनाथ शर्म्मा 'कौशिक', बा० बद्रीनाथ 'सुदर्शन' बा० जयशंकर 'प्रसाद', पांडेय बेचन शर्म्मा 'उग्र', ऋषभचरण जैन आदि अनेक लेखक अच्छी कहानियाँ लिखा करते हैं। कौशिकजी कहानियों

में ग्राम्य चरित्र बहुत अच्छा अंकित करते हैं, सुदर्शन जी पंजाबी होते हुए भी भावपूर्ण गल्पें सरल हिंदी में लिखते हैं, प्रसाद की कहानियाँ कवित्व पूर्ण हुआ करती हैं। बा० चंडीप्रसाद 'हृदयेश' भी अत्यंत ललित भाषा में सामाजिक कहानियाँ लिखा करते थे। इन लोगों की कहानियों के कई संग्रह निकल चुके हैं। ज्वालादत्त शर्मा, रायकृष्णदास, उग्र, विनोद शंकर व्यास तथा अन्य बहुत से कहानी लेखक हमारे आख्यायिका-साहित्य के निर्माण में लगे हुए हैं। इन मौलिक आख्यायिकाओं के साथ कुछ लोग बंगाल, फ्रेंच, रूसी, इटालियन आदि की प्रसिद्ध कहानियों के अनुवाद किया करते हैं। यह विशेषकर मासिक पत्रों में मुद्रित हुआ करती हैं।

भारतेंदु के कुछ समकालीन लेखक स्थायी साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त त्योहार, उत्सव, ऋतु आदि पर निबंध लिखा करते थे।

निबंध प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट आदि ने ऐसे विषयों पर अपनी अपनी रुचि के अनुसार लेखनी चलाई। इनके बाद पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्रसिद्ध अँगरेज निबंध-लेखक लार्ड बेकन के कुछ निबंधों का अनुवाद 'बेकन-विचार रत्नावली' नाम से किया, और पं० गंगा-प्रसाद अग्निहोत्री ने मराठी लेखक चिपलूणकर के कई निबंध 'निबंध-मालादर्श' में अनूदित किए। द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के संपादन-काल में उसमें अगणित निबंध भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखे। पर इनमें से केवल कुछेक को छोड़कर अधिकाँश

चलते विषयों पर हैं। इनके स्थायी विषयों पर विचारात्मक लेख थोड़े ही हैं। इन लेखों के कई संग्रह थोड़े दिनों से निकल रहे हैं; जैसे 'सुकवि संकीर्तन', 'अद्‌भुत आलाप', 'विचित्र चित्रण', आदि। पं० माधवप्रसाद मिश्र (संपादक 'सुदर्शन') इसी समय उत्पन्न हुए थे। इनके ओजस्वी, प्रभावशाली एवं गंभीर लेख थोड़े दिनों तक देखने को मिले। अकालमृत्यु ने इन्हें हमसे बड़ी जल्दी छीन लिया और इनकी प्रतिभा का प्रस्फुटन मात्र देखने को मिला। बाबू बालमुकुंद गुप्त (सं० १९२२) ने अपने समय की स्थिति पर बहुत अच्छे निबंध लिखे। इनका 'शिव शंभु का चिट्ठा' बड़ी जानदार भाषा में है। उर्दू के अच्छे विद्वान एवं लेखक होने के कारण गुप्त जी की भाषा में जीवट, चलतापन और विनोद का पूर्ण परिपाक है। पंडित गोविंदनारायण मिश्र ने गद्यकाव्यात्मक संस्कृत की अलंकारिक भाषा में कई निबंध लिखे थे। कुछ लोग इन्हें हिंदी का बाण कहते हैं। अनुप्रासों में इनकी विशेष रुचि थी। हास्यरसात्मक गद्य लिखने वाले पंडित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी (सं० १९३२) बाबू बालमुकुंद के मित्र हैं। गुप्त जी के 'भारतमित्र' में चतुर्वेदी जी बराबर लिखा करते थे। इन्हें अनुप्रासमयी भाषा लिखने का ही नहीं, बोलने तक का रोग-सा है। इन्होंने किसी स्थायी विषय पर कुछ नहीं लिखा। बाबू पूर्णसिंह के यद्यपि तीन-चार लेख उपलब्ध हैं तथापि उनमें उनकी मौलिक शैली व्यंजित होती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल विचारात्मक गंभीर

निबंध लिखने में अद्वितीय हैं । इन्होंने बहुत से मनोवैज्ञानिक निबंध भी लिखे हैं । अध्ययन के लिये, शुक्लजी के निबंध बहुत गूढ़ होते हैं । 'विचार बीथी' नाम से इनका एक निबंध संग्रह थोड़े दिन हुए छपा है । बाबू गुलाबराय एम० ए० ने भी विचार तथा भावपूर्ण कई निबंध लिखे हैं और समय-समय पर लिखा करते हैं । दार्शनिक निबंध लेखकों में ला० कन्नोमल और बाबू गंगाप्रसाद उपाध्याय का उल्लेख आवश्यक है । आजकल गद्यकाव्यात्मक विक्षेप शैली के निबंध लिखने की ओर भी कुछ लोग प्रवृत्त हैं । श्रीचतुरसेन शास्त्री का 'अंतस्तल', श्रीरायकृष्णदास की 'साधना', 'भावना' आदि एवं श्रीवियोगी हरि की 'तरंगिणी' 'पगली' और 'अंतर्नाद'—इस शैली के ग्रंथ हैं । इनके भाव और उनके व्यक्त करने के ढंग श्रेष्ठ और मनोरम हैं । श्रीवियोगी हरि का 'साहित्य विहार' गद्य-पद्य मिश्रित अपने ढंग का अनोखा गद्य ग्रंथ है । श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख्शी बी० ए०, ने भी कई विषयों पर अध्ययन पूर्ण निबंध लिखे हैं, जिनसे उनकी विद्वता, विचार-शैली आदि का पता चलता है । 'साहित्य विमर्श', 'विश्व-साहित्य' और 'पंच पात्र' बख्शी जी के लेखों के संग्रह-ग्रंथ हैं, इनमें कई अच्छे निबंध स्थायी विषयों पर हैं ।

आरंभ में किसी पुस्तक के गुण-दोष दिखाना ही कदाचित् हमारे यहां हिंदी में समालोचना समझी जाती थी । पं० बदरी नारायण ने अपनी 'आनंद-कादंबिनी' पत्रिका में लाला श्रीनिवास

समालोचना दास के 'सीता स्वयंबर' नाटक की बड़ी तीव्र

आलोचना की थी। संभवतः यहीं से हिंदी में समालोचना का सूत्रपात हुआ। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी 'कालिदास की आलोचना' लिखकर आलोचनात्मक ग्रंथ प्रणयन का आरंभ किया। द्विवेदीजी ने 'विक्रमांकदेव-चरित-चर्चा' और 'नैषध-चरित-चर्चा' में इन ग्रंथों की विशेषताएँ दिखाईं। 'कालिदास की निरंकुशता' में इन्होंने कालिदास के व्याकरण-संबंधी दोषों की आलोचना की। द्विवेदी जी ने यद्यपि हिंदी के किसी कवि की अंगरेजी के ढंग से साहित्यिक समीक्षा नहीं की, तथापि उन्होंने सरस्वती में अपने समय की पुस्तकों की भाषा, व्याकरण आदि की अशुद्धियों पर बड़ी तीव्र आलोचनाएँ कीं। इनसे भावी लेखक संभल गये। मिश्रबंधुओं (रा. बा. पं० श्यामबिहारी मिश्र, एम० ए० और रायबहादुर पं० शुकदेव बिहारी मिश्र, बी० ए०) ने 'हिंदी नवरत्न' में हिंदी के नौ (और अब दस) प्रसिद्ध कवियों पर आलोचनात्मक निबंध लिखे। कवियों की आलोचना पहले पहल इसी ग्रंथ से आरंभ हुई। इन लोगों की सम्मितियाँ यद्यपि सर्वग्राह्य नहीं हैं तथापि उन्होंने इस ओर ध्यान आकर्षित कर स्तुत्य कार्य किया है। इसके कुछ दिन पश्चात् पं० पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के विषय में बहुत बढ़िया आलोचनात्मक ग्रंथ लिखा। बिहारी के दोहों को 'आर्या सप्तसती' तथा 'गाथा सप्तसती' के पद्यों और हिंदी के अन्य पूर्व तथा पर-वर्ती कवियों की रचनाओं से तुलना कर शर्मा जी ने हिंदी में तुलनात्मक समालोचना का प्रारंभ किया। किंतु शर्मा जी ने बिहारी की

विशेषताओं के अन्वेषण और अंतः प्रवृत्तियों के उद्घाटन का जो आधुनिक समालोचना का प्रधान लक्ष्य समझा जाता है— प्रयत्न नहीं किया। तुलनात्मक समालोचना को पं० कृष्णविहारी मिश्र, बी० ए०, एल-एल बी० ने 'देव और बिहारी' और 'मतिराम ग्रंथावली' रचकर आगे बढ़ा दिया। यह भी मानवीय अंतःकरण में प्रविष्ट होनेवाली कवि की रचनाओं के भीतर नहीं घुस सके। आगे चलकर पं० रामचंद्र शुक्ल ने सर्व प्रथम हिंदी समालोचना के क्षेत्र में एक नए ढंग का सूत्रपात किया। किसी कवि के गुण और दोषों का कथन मात्र समालोचना मानना आजकल के विद्वान ठीक नहीं समझते। कवि ने मानवीय एवं प्रकृति के अंतःकरण में कहाँ तक प्रवेश किया—इसका विश्लेषण करना समालोचक का काम है। शुक्लजीने तुलसी, सूर और जायसी पर इस प्रकार की अत्यंत पांडित्यपूर्ण आलोचनाएँ लिखी हैं। शुक्ल जी का 'काव्य में रहस्यवाद' उनकी साहित्य शास्त्र की विद्वता तथा गंभीर गवेषणा का उदाहरण है। स्वर्गीय लाला भगवानदीन का 'बिहारी और देव' इन दोनों कवियों को एक दूसरे से बड़ा सिद्ध करने की अंतिम चेष्टा थी। उसमें उच्चकोटि की आलोचना के दर्शन नहीं होते, किंतु आगे चलकर लाला जी ने अपने संपादित 'सूरपंचरत्न', 'केशवपंचरत्न', 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' आदि की भूमिका में अच्छी समालोचनाशक्ति प्रदर्शित की है। यदि हम कहें कि पंडित रामचंद्र शुक्ल हिंदी के आधुनिक समालोचकों में सबसे श्रेष्ठ हैं तो अत्युक्ति न होगी।

बा० श्यामसुंदरदास ने कबीर ग्रंथावली की भूमिका में शुक्ल जी के ढंग की मार्मिक आलोचना की है। कवियों की मानव अंतःकरण से संबंध रखने वाली सूक्तियों का सुंदर विवेचन करने वालों में बाबू राजबहादुर लमगोड़ा का स्मरण करना चाहिए। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास की 'सुकुमार सूक्तियों' का बहुत सरस विवेचन किया है। पंडित रामकृष्ण शुक्ल, 'शिलीमुख' की 'प्रसाद की नाट्यकला' में उच्चकोटि की समालोचना है। इसमें अंगरेजी और संस्कृत आलोचना पद्धतियों का सामंजस्य है। श्रीरामकुमार वर्मा का 'कबीर का रहस्यवाद' भी अपने ढंग का अच्छा ग्रंथ है।

समालोचना-शास्त्र संबंधी ग्रंथ भी हिंदी में लिखे जाने लगे हैं। अध्यापक श्यामसुंदर दास बी० ए० का 'साहित्यालोचन' इस विषय का अच्छा ग्रंथ है।

साहित्य-शास्त्र विषयक ग्रंथों में 'पोद्दार' का काव्य कल्पद्रुम 'भानु' के काव्य प्रभाकर और छंद प्रभाकर तथा विनायक राव का काव्य कुसुमाकर अच्छे हैं। और साहित्यदर्पण तथा रसगंगाधर के अनुवाद उल्लेख्य हैं। अलंकार शास्त्र पर 'रसाल' का अलंकार पीयूष पश्चिमी आलोचना के ढंग का है।

ऊपर कह आए हैं कि आजकल साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों की पूर्ति में हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने वाले लोग दत्तचित्त

अन्य विषय

हैं। ऐतिहासिक ग्रंथों में मिश्रबन्धुओं का 'भारतवर्ष का इतिहास' भाई परमानंद एम० ए० का 'यूरोप का इतिहास

श्रीसत्यव्रत सिद्धांतालंकार का 'मौर्य कालीन भारत', पंडित हरिमंगल मिश्र, एम० ए० का 'प्राचीन भारत', महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा का 'राजपूत जाति का इतिहास', पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ का 'भारत के प्राचीन राजवंश' आदि भाषा तथा साहित्यिक दृष्टि से अच्छे हैं। पं० नंदकुमारदेव शर्मा ने भी 'शिवाजी', 'नंदकुमार की फाँसी' आदि कई अच्छे ग्रंथ लिखे थे। स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली इतिहास पुस्तकों में डाक्टर ईश्वरीप्रसाद के भारतवर्षीय इतिहास अच्छे हैं। अर्थ-शास्त्र संबंधी साहित्य प्रस्तुत करने में डाक्टर प्राणनाथ डो० एस-सी, विद्यालंकार, प्रो० दयाशंकर दुबे, एम० ए०, एल० एल० बी०, श्री० भगवानदास केला, श्री० कस्तूरमल जेठिया, पं० गौरीशंकर शुक्ल आदि ने स्तुत्य कार्य किए हैं, और कर रहे हैं। पुरातत्व संबंधी ग्रंथ उक्त ओझाजी, पं० जनार्दन भट्ट एम० ए०, आदि ने लिखे हैं। वैज्ञानिक लेख एवं ग्रंथ प्रणायन में श्री शालग्राम भार्गव, श्री गोपाल स्वरूप भार्गव, बा० रामदास गौड़, श्रीसत्यप्रकाश आदि बहुत से विद्वानों के कार्य प्रशंसनीय हैं। वैज्ञानिक विषयों पर आज कल प्रायः सब मासिक पत्रों में कुछ न कुछ निकला ही करता है। बा० व्रजेश बहादुर का प्राणी-शास्त्र-संबंधी 'जंतु जगत' नामक एक सुंदर ग्रंथ हिंदुस्तानी ऐकेडेमी प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। इसकी भाषा सरल तथा रोचक है। 'भाषा विज्ञान' का आरंभ बा० श्यामसुंदरदास, श्री नलिनीमोहन सान्यल और डाक्टर

मंगलदेव के ग्रंथ कर रहे हैं। स्वर्गीय पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी' शीर्षक वृहद् लेख से अपने भाषातत्वविद् होने का पूर्ण आभास दिया था। उनके अकाल देहावसान ने अभी तक इस विषय में मौलिक अन्वेषण कार्य आगे नहीं बढ़ने दिया। हमारी भाषा एवं साहित्य के इतिहास पर भी अब अच्छी रचनाएँ हो रही हैं। 'मिश्रवंधु विनोद' को इस विषय का पथ प्रदर्शक कहना चाहिए। वैज्ञानिक ढंग से लिखित पं० रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' इस विषय के ग्रंथों में सर्वोत्तम है। बा० श्यामसुंदर दास के 'हिंदी भाषा और साहित्य' में हिंदी साहित्य की विचार धाराओं का अच्छा निदर्शन है। पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' का 'हिंदी साहित्य' का इतिहास तथा पं० सूर्यकांत का 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' भी कई दृष्टियों से मौलिकता पूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त कुछ छोटी छोटी पुस्तकें भी इस विषय की हैं। राजनीति एवं समाजनीति पर भी इन दिनों प्रायः बहुत लेख निकला करते हैं। श्री सुखसंपतिराय भंडारी, श्री भगवानदास केला आदि ने कई अच्छी पुस्तकें इन विषयों पर लिखी हैं। यात्रा तथा भ्रमण संबंधी लेख तो आजकल बहुत निकलते हैं। दो-चार लेखकों ने अपने यात्रानुभव पुस्तक रूप में भी प्रस्तुत किए हैं। बाबू शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथिवी प्रदक्षिणा' और श्री गोपाल नेवटिया का 'काश्मीर' बहुत अच्छे और सचित्र ग्रंथ हैं। स्वामी सत्यदेव की कई पुस्तकें

इस दिशा में पथप्रदर्शक थीं। जीवन चरित्र संबंधी साहित्य की तो हिंदी में बाढ़-सी आई है। फिर भी कुछ थोड़ी सी पुस्तकों को ही प्रौढ़ रचना कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त शरीर-विज्ञान, चरित्र-निर्माण, धर्म-निरूपण आदि अन्य विषयों पर अच्छी-अच्छी रचनाएँ प्रकाशित हो रही है। सारांश, आजकल हमारे जीवन में आवश्यक सभी प्रकार के विषयों पर हिंदी में ग्रंथ-रचना हो रही है और हर साल बहुतसी अच्छी पुस्तकों का समावेश हमारी भाषा में होता जाता है, और हिंदी की सर्वांगीण उन्नति की ओर लोग प्रयत्नशील हैं। पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा भी गद्य का सर्वतो- मुखी विकाश हो रहा है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी गद्य का भविष्य उज्वल है। केवल हिंदी भाषा-भाषी लोग ही नहीं इसमें लेख एवं ग्रंथ लिख रहे हैं, प्रत्युत विभिन्न भाषा-भाषी भी इसकी राष्ट्रीय महत्ता स्वीकार कर इसके द्वारा भावाभिव्यक्ति कर रहे हैं यद्यपि अभीतक हिंदी गद्य में स्थायी साहित्य के रूप में गिने जाने वाले ग्रंथ इने-गिने ही हैं, परंतु निकट भविष्य में प्रौढ़ रचनाओं के होने के चिन्ह दिखाई पड़ रहे हैं। हमारा विश्वास है कि अनतिदूर भविष्य में हिंदी का गद्य साहित्य उसके प्राचीन पद्य-साहित्य से भी श्रेष्टतर हो जायगा और संसार की अन्य समुन्नत भाषाओं का समकक्ष होगा।

उपसंहार

श्रीचंद्रावली

[श्रीभारतेंदु हरिश्चंद्र]

(तीसरा पहर, गहरे बादल छाए हुए हैं)

[झूला पड़ा है, कुछ सखी झूलती, कुछ इधर उधर फिरती हैं]

(चंद्रावली, मालती, विलासिनी, इत्यादि एक स्थान पर बैठी हैं, कामिनी और माधुरी हाथ में हाथ दिए घूमती हैं।)

कामिनी—सखी, देख बरसात भी अब की किस धूमधाम से आई है मानो कामदेव ने अबलाओं को निर्बल जानकर इनके जीतने को अपनी सेना भिजवाई है। धूम से चारों ओर से घूम-घूमकर बादल बगपंगति का निशान उड़ाए लपलपाती नंगी तलवार सी बिजली चमकाते गरज-गरजकर डराते बान के समान पानी बरखा रहे हैं और इन दुष्टों का जी बढ़ाने को मोर करखा सा कुछ अलग पुकार-पुकार गा रहे हैं। कुल की मर्य्यादा ही पर इन निगोड़ों की चढ़ाई है। मनोरथों से कलेजा उमगा आता है और काम की उमंगें जो अंग-अंग में भरी हैं उनके निकले बिना जी तिलमिलाता है। ऐसे बादलों

को देखकर कौन लाज की चद्दर रख सकती है और कैसे पतिव्रत पाल सकती है !

माधुरी—विशेषकर वह जो आप कामिनी हो । (हँसती है)

कामिनी—चल तुझे हँसने ही की पड़ी है। देख भूमि चारों ओर हरी-हरी हो रही है। नदी नाले बावली तालाब सब भर गए। पच्छी लोग पर समेटे पत्तों की आड़ में चुपचाप सकपके से होकर बैठे हैं। बीरबहूटी और जुगनूँ पारी-पारी रात और दिन को इधर-उधर बहुत दिखाई पड़ते हैं। नदियों के करारे धमाधम टूटकर गिरते हैं। सर्प निकल निकल अशरण से इधर-उधर भागे फिरते हैं। मार्ग बंद हो रहे हैं। परदेशी जो जिस नगर में हैं वहीं पड़े पड़े पछता रहे हैं, आगे बढ़ नहीं सकते। वियोगियों को तो मानो छोटा प्रलयकाल ही आया है।

माधुरी—छोटा क्यों बड़ा प्रलयकाल आया है। पानी चारों ओर से उमड़ ही रहा है। लाज के बड़े-बड़े जहाज़ गारद हो चुके। भया फिर वियोगियों के हिसाब से संसार डूबा हो है, तो प्रलय ही ठहरा।

कामिनी—पर तुझको तो वट कृष्ण का अवलंब है न, फिर तुझे क्या, भांडीर वट के पास उस दिन खड़ी बात कर ही रही थी, गए हम—

माधुरी—और चंद्रावली ?

कामिनी—हाँ चंद्रावली विचारी तो आप ही गई बीती है,

उसमें भी अब तो पहरे में है, नजरबंद रहती है, झलक भी नहीं देखने पाती, अब क्या—

माधुरी—जाने दे नित्य का झंखना। देख फिर पुरवैया झकोरने लगी और वृक्षों से लपटी लताएं फिर से लरजने लगीं। साड़ियों के आँचल और दामन फिर उड़ने लगे और मोर लोगों ने एक साथ फिर शोर किया। देख यह घटा अभी गरज गई थी, पर फिर गरजने लगी।

कामिनी—सखी बसंत का ठंढा पवन और सरद की चाँदनी से राम-राम करके वियोगियों के प्राण बच भी सकते हैं, पर इन काली-काली घटा और पुरवैया के झोकों तथा पानी के एकतार झमाके से तो कोई भी न बचेगा।

माधुरी—तिस में तू तो कामिनी ठहरी, तू बचना क्या जाने ?

कामिनी—चल ठठोलिन। तेरी आँखों में अभी तक उस दिन की खुमारी भरी है, इसीसे किसी को कुछ नहीं समझती। तेरे सिर बीते तो मालूम पड़े।

माधुरी—बीती है मेरे सिर। मैं ऐसी कच्ची नहीं कि थोड़े में बहुत उबल पड़ूँ।

कामिनी—चल तू हई है क्या कि न उबल पड़ेगी। स्त्री को बिसात ही कितनी। बड़े-बड़े योगियों के ध्यान इस बरसात में छूट जाते हैं, कोई योगी होने ही पर मन ही मन पछताते हैं, कोई जटा पटककर हाय-हाय चिल्लाते हैं और बहुतेरे तो

तूमड़ी तोड़-तोड़कर योगी से भोगी हो जाते हैं।

माधुरी—तो तू भी किसी सिद्ध से कान फुँकवाकर तुमड़ी तोड़वा ले।

कामिनी—चल! तू क्या जाने इस पीर को? सखी यही भूमि और यही कदम कुछ दूसरे ही हो रहे हैं और यह दुष्ट बादल मन ही दूसरा किए देते हैं। तुझे प्रेम हो तब सूझे। इस आनंद की धुन में संसार ही दूसरा एक विचित्र शोभावाला और सहज काम जगानेवाला मालूम पड़ता है।

माधुरी—कामिनी पर काम का दावा है इसी से हेरफेर उसीको बहुत छेड़ा करता है।

चंद्रावली—सखियो, देखो कैसी अंधेर और गजब है कि या रुत मैं सब अपनो मनोरथ पूरो करैं और मेरी यह दुरगति होय! भलो काहुवै तो दया आवती। (आँखों में आँसू भर लेती है)

माधवी—सखी तू क्यों उदास होय है। हम सब कहा करैं, हम तो आज्ञाकारिणी दासी ठहरीं, हमारो का अख़त्यार है तऊ हममैं सों तो कोऊ कछू तोहि नायँ कहै।

कामिनी—भलो सखी, हम याही कहा कहैंगी! याहू तो हमारी छोटी स्वामिनी ठहरी।

विलासिनी—हाँ सखी, हमारी तो दोऊ स्वामिनी हैं। सखी, बात यह है कि खराबी तो हम लोगन की है। ये दोऊ फेर एक की एक होयँगी। लाठी मारबे सों पानी थोरों हूं जुदा हो जायगो,

पर अभी जो सुन पावैं कि ढिमको सखी ने चंद्रावलियै अकेलि छोड़ि दीनी तो फेर देखो तमासा।

माधवी—हम्बै बीर। और कामहू तौ हमीं सब बिगारैं। अब देखि कौननै स्वामिनी सों चुगलो खाई, हमारेई तुमारे में सों वहू है। सखी चंद्रावलियै जो दुःख देयगी वह आप दुःख पावैगी।

चंद्रावली—(आप ही आप) हाय! प्यारे, हमारी यह दशा होती है और तुम तनिक नहीं ध्यान देते। प्यारे, फिर यह शरीर कहाँ और हम-तुम कहाँ? प्यारे, यह संयोग हमको तो अब की ही बना है, फिर यह बातें दुर्लभ हो जायँगी। हाय नाथ, मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंगें कैसे निकालूँ? प्यारे, रात छोटी है और स्वांग बहुत हैं। जीना थोड़ा और उत्साह बड़ा। हाय! मुझसी मोह में डूबी को कहीं ठिकाना नहीं। रात दिन रोते ही बीतते हैं। कोई बात पूछने वाला नहीं, क्योंकि संसार में जी कोई नहीं देखता, सब ऊपर ही की बात देखते हैं। हाय! मैं तो अपने पराए सबसे बुरी बनकर बेकाम हो गई। सबको छोड़कर तुम्हारा आसरा पकड़ा था सो तुमने यह गति की। हाय! मैं किसकी होके रहूं? मैं किसका मुँह देखकर जीऊँ? प्यारे, मेरे पीछे कोई ऐसा चाहनेवाला न मिलेगा। प्यारे, फिर दिया लेकर मुझको खोजोगे। हा! तुमने विश्वासघात किया। प्यारे, तुम्हारे निर्दयीपन की

भी कहानी चलेगी। हमारा तो कपोत-व्रत है। हाय ! स्नेह लगाकर दगा देने पर भी सुजान कहाते हो। बकरा जान से गया, पर खानेवाले को स्वाद न मिला। हाय ! यह न समझा था कि यह परिणाम करोगे। वाह ! खूब निर्वाह किया ! बधिक भी बधकर सुधि लेता है, पर तुमने न सुधि लो। हाय ! एक बार तो आकर अंक में लग जाओ। प्यारे, जीते जी आदमी का गुन नहीं मालूम होता। हाय ! फिर तुम्हारे मिलने को कौन तरसेगा और कौन रोवेगा ? हाय ! संसार छोड़ा भी नहीं जाता। सब दुःख सहती हूँ, पर इसी में फँसी पड़ी हूँ। हाय ! नाथ, चारों ओर से जकड़कर ऐसी बेकाम क्यों कर डाली है। प्यारे, योंही रोते दिन बीतेंगे ? नाथ, यह हबस मन की मन ही में रह जायगी। प्यारे, प्रगट होकर संसार का मुँह क्यों नहीं बंद करते और क्यों शंका-द्वार खुला रखते हो ! प्यारे, सब दीनदयालुता कहां गई ! प्यारे जल्दी इस संसार से छुड़ाओ, अब नहीं सही जाती। प्यारे, जैसी हैं तुम्हारी हैं। प्यारे, अपने कनौड़े को जगत की कनौड़ी मत बनाओ। नाथ, जहाँ इतने गुन सीखे वहाँ प्रीति निबाहना क्यों न सीखा ? हाय ! मझधार में डुबाकर ऊपर से उतराई माँगते हो ! प्यारे सो भी दे चुकी अबतो पार लगाओ। प्यारे, सब की हद होती है। हाय ! हम तड़पैं और तुम तमाशा देखो। जन-कुटुम्ब से छुड़ाकर यों तितर-बितर करके बेकाम कर देना यह कौन बात है ? हाय ! सब की आँखों में हलकी हो

गई। जहां जाओ वहाँ दुर-दुर। उस पर यह गति! हाय! "भामिनी ते भौंड़ी करी, मानिनी ते मौड़ी करी, कौड़ी करी हीरा तें, कनौड़ी करी कुल तें।" तुम पर बड़ा क्रोध आता है और कुछ कहने को जी चाहता है। बस अब मैं गाली दूँगी। और क्या कहूँ, बस आप आप ही हैं। देखो गाली में भी तुम्हें मैं मर्म-वाक्य कहूंगी—झूठे, निर्दय, निर्घृण, "निर्दय हृदय कपाट," बखेड़िये और निर्लज्ज, ये सब तुम्हें सच्ची गालियां हैं; भला जो कुछ करना ही नहीं था तो इतना झूठ क्यों बके! किसने बकाया था! कूद-कूद कर प्रतिज्ञा करते बिना क्या डूबी जाती थी? झूठे! झूठे!! झूठे!!! झूठे ही नहीं वरंच विश्वासघातक! क्यों इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा-उठाकर लोगों को विश्वास दिया? आपही सब मरते, चाहे जहन्नुम में पड़ते। और उसपर तुर्रा यह है कि किसीको चाहे कितना भी दुखी देखें आपको कुछ घृणा तो आती ही नहीं। हाय हाय! कैसे कैसे दुःखी लोग हैं और मजा तो यह है कि सब धान बाइस पसेरी। चाहे आपके वास्ते दुखी हो, चाहे अपने संसार के दुख से; आपको दोनों उल्लू फँसे हैं। इसी से तो 'निर्दय हृदय कपाट' यह नाम पड़ा है। भला क्या काम था कि इतना पचड़ा किया? किसने इस उपद्रव और जाल करने को कहा था? कुछ न होता, तुम्हीं हम रहते बस चैन था, केवल आनंद था, फिर क्यों यह विषमय संसार किया? बखेड़िए! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की।

नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें, आप भी अपने मुँह झूठे बने, पर वाह रे शुद्ध बेहयाई और पूरी निर्लज्जता! बेशरमी हो तो इतनी तो हो! क्या कहना है! लाज को जूतों मारके पीट-पाट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ला में आप रहते हैं उस मुहल्ले में लाज की हवा भी नहीं जाती। जब ऐसे हो तब ऐसे हो। हाय! एक बार भी मुँह दिखा दिया होता तो मत-वाले मतवाले बने क्यों लड़-लड़कर सिर फोड़ते! अच्छे खासे अनूठे निर्लज्ज हो। काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे? हुकमी बेहया हो। कितनी गाली दूँ, बड़े भारी पूरे हो, शरमाओगे थोड़े ही कि माथा खाली करना सुफल हो। जाने दो—हमभी तो वैसो ही निर्लज्ज और झूठो हैं। क्यों न हो। 'जस दूलह तस बनी बराता'। पर इसमें भी मूल उपद्रव तुम्हारा ही है। पर यह जान रखना कि इतना और कोई न कहेगा, क्यों शिफ़ारशी नेति-नेति कहेंगे, सच्ची थोड़े ही कहेंगे। पर यह तो कहो कि यह दुःखमय पचड़ा ऐसा ही फैला रहेगा कि कुछ तै भी होगा वा न तै होगा? हमको क्या? पर हमारा तो पचड़ा छुड़ाओ। हाय मैं किससे कहती हूं? कोई सुनने वाला है। जंगल में मोर नाचा किसने देखा? नहीं नहीं, वह सब देखता है, वह देखता होता तो अबतक मेरी खबर न लेता। पत्थर होता तो वह भी पसीजता। नहीं नहीं, मैंने प्यारे को इतना दोष व्यर्थ लगाया। प्यारे, तुम्हारा दोष कुछ भी नहीं। यह सब मेरे

कर्म का दोष है। नाथ, मैं तो तुम्हारी नित्य की अपराधिनी हूँ। प्यारे क्षमा करो। मेरे अपराधों की ओर न देखो, अपनी ओर देखो। (रोती है)

माधवी—हाय-हाय सखियो ! यह तो रोय रही है।

कामिनी—सखी, प्यारी, रोवै मती। सखी, तोहि मेरे सिर की सौंह जो रोवै।

माधवी—हाय-हाय ! यह तो मानै ही नहीं। (आँसू पोंछकर) मेरी प्यारी मैं हाथ जोड़ूँ हा हा खाऊँ मानि जा।

कामिनी—सखी यासों मति कछू कहौ। आओ हम सब मिलिकै विचार करैं जासों याको काम होय।

चंद्रावली—(रोकर) सखी, एक उपाय मुझे सूझा है जो तुम मानो।

माधवी—सखी, क्यों न मानैंगी तू कहै क्यों नहीं ?

चंद्रावली—सखी, मुझे यहाँ अकेली छोड़ जाओ।

माधवी—तो तू अकेली यहाँ क्या करेगी ?

चंद्रावली—जो मेरी इच्छा होगी।

माधवी—भलो तेरी इच्छा का होयगी हमहूँ सुनैं ?

चंद्रावली—सखी, वह उपाय कहा नहीं जाता।

माधवी—तौ का अपनो प्राण देगी। सखी, हम ऐसी भोरी नहीं हैं कै तोहि अकेली छोड़ जायँगी।

चंद्रावली—(रोकर) हाय ! मरने भी नहीं पाती। यह अन्याय !

माधवी—सखी, अन्याय नहीं, यही न्याय है।

विलासिनी—हाँ माधवी, तू ही चतुर है तू ही उपाय सोच।

माधवी—सखी, मेरे जी में तो एक बात आवै है। हम तीनि हैं सो तीनि काम बाँटि लें। प्यारी जू के मनाइबे को मेरो जिम्मा। यही काम सब में कठिन है और तुम दोउन मैं सों एक याके घरकेन सों याकी सफाई करावै और एक लालजू सों मिलिबे को कहै।

कामिनी—लालजी सों मैं कहूँगी। मैं विन्ने बहुती लजाऊँगी। और जैसे होयगो वैसे यासों मिलाऊँगी।

माधवी—सखी, वेऊ का करैं। प्रियाजी के डरसों कछू नहीं कर सकैं।

विलासिनी—सो प्रियाजू को जिम्मा तेरो हुई है।

चंद्रावली—सखियो! व्यर्थ क्यों यत्न करती हो। मेरे भाग्य ऐसे नहीं हैं कि कोई काम सिद्ध हो।

माधवी—सखी, हमारे भाग्य तो साधे हैं। हम अपने भाग्यबल सों सब काम करैंगी।

कामिनी—सखी, तू व्यर्थ क्यों उदास भई जाय है, जबतक सांसा तबतक आसा। (चंद्रावली का हाथ पकड़ कर) लै सखी, अब उठ। चलि हिंडोरे झूलि।

माधवी—हाँ सखी अब तो अनमनोपन छोड़ि।

चंद्रावली—सखी, छूटा ही सा है, पर मैं हिंडोर न झूलूँगो

मेरे तो नेत्र आपही हिंडोरे झूला करते हैं।

माधवी—तौ सखी, तेरी जो प्रसन्नता होय! हम तो तेरे सुख की गाँहक हैं।

चंद्रावली—हा, इन बादलों को देखकर तो और भी जी दुखी होता है—

देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि,
जिय मैं बिरह घटा घहरि-घहरि उठै
त्यौंही इंद्रधनु बगमाल देखि बनमाल,
मौती-लर पीकी जिय लहरि-लहरि उठै
'हरीचंद' मोर पिक धुनि सुनि बंसी-नाद,
बाकी छवि बार-बार छहरि-छहरि उठै
देखि-देखि दामिनी की दुगुन दमकपीत—
पट छोर मेरे हिय फहरि-फहरि उठै

हाय! जो बरसात संसार को सुखद है वह मुझे इतनी दुखदायी हो रही है!

माधवी—तौ न दुखदायिनी होयगी। चल उठि घर चलि।

कामिनी—हाँ चलि।

[सब जाती हैं

(यवनिका गिरती है)

आधुनिक गद्य का प्रारंभिक काल

[श्रीबदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन']

नागरी के प्रथम गद्य लेखक लल्लू लालजी हैं, क्योंकि उनसे पहलेके किसी लेखक का नाम नहीं सुना जाता। अवश्य हो लोग आगे भी गद्य लिखते ही रहे होंगे, परंतु छापेखाने के अभाव से सामान्य गद्य-ग्रंथ कैसे प्रचार में आते? तब क्यों कोई 'प्रेमसागर' सा बड़ा ग्रंथ हाथों से लिखता और उसका इतना प्रचार होता? जो हो उन्होंने उन्नोसवीं शताब्दी के आदि में 'प्रेमसागर' बनाया, जिसकी रचना की प्रशंसा करनी ही होगी, क्योंकि वह प्रायः केवल कान से सुनो बोलो के लिखनेवाले थे। उन्होंने विदेशी शब्दों से अपनी भाषा को बहुत बचाया। मानो यही हमारी भाषा का अंतिम संस्कार है कि जो उर्दू से उसे भिन्न रूप देता है। तो भो यह मानना पड़ेगा कि उनकी भाषा एक रोति से बालभाषा है। इसी कारण यह सीधी सादी और कुछ खुर्खुरी है, जिसे टकसालो भाषा नहीं कह सकते। इसी भाँति उनके पीछे के पादरी लोगों वा अन्य की भाषाएँ भी उसी कोटि की हैं। अतएव उसके दूसरे सुलेखक राजा शिवप्रसाद जी को ही उसका परमाचार्य्य

अथवा आदि सुलेखक वा ग्रंथकार कहना चाहिए क्योंकि जैसी अनोखी और पुष्ट भाषा उन्होंने लिखी, आजतक फिर कोई न लिख पाया। जिस काट-छाँट का कैंडा वे बना गये, वह उनकी बहुत बड़ी योग्यता का साक्षी है। ठेठ हिंदी शब्दों की सजावट, सुगम संस्कृत और पारसी आदि शब्दों की मिलावट से जैसी सुथरी, सुंदर और चुस्त इबारत की धारा उनकी लिखावट में आई फिर किसी की लेखनी से न निकल सकी।

क्या नागरी अर्थात् अधिकांश विदेशी शब्दों से शून्य उच्च और क्या सामान्य बोलचाल की सरल भाषा तथा नीम उर्दू उनकी सभी शैलियाँ समान रीति में सुहावनी और मन लुभावनी होती थीं। जिसका प्रमाण उनकी पुस्तकें हैं। विशेषकर 'भूगोल हस्तामलक' अथवा 'गुटका' में उनकी लिखी पुस्तकें और इतिहास 'तिमिरनाशक' विशेषतः उसका तीसरा भाग।

एक दिन मैं अपने अभिन्न-हृदय माननीय मित्र भारतेंदु से संयोगात् कह उठा कि मैंने सबकी लिखी हिंदी पढ़ी, परंतु जो स्वाद मुझे राजा साहब की लिखावट में मिलता है, दूसरों की में कदापि नहीं। वह मुसकराकर बोले कि "क्या कहें, वैसी लच्छेदार इबारत कोई लिखी नहीं सकता, पसंद कैसे आवे? सचमुच उनके क़लम में जादू का असर है।" अवश्य ही वह सरल उर्दू शब्दों के मेल को बुरा नहीं समझते थे और

अप्रचलित संस्कृत शब्दों के भरने के विरोधी थे। वह केवल ठेठ बोलचाल की हिंदी के पक्षपाती थे। एक दिन भारतेंदु के साथ मैं उनके घर पर गया, तो और बातों के साथ हिंदी की लिखावट की बात चली, तो कहा कि, "आप लोग क्या पाणिनि का जमाना लाना चाहते हैं ? इबारत वही अच्छी कही जायगी कि जो आम-फह्म और खास-पसंद हो।" बाबू साहब ने कहा कि "हुजूर क्या किया जाय, अरबी, फारसी के अल्फाज के मेल से तो उर्दू-हिंदी में कुछ भेद ही नहीं रह जाता।" कहा कि, "भेद तो दरअस्ल हई नहीं है, लोग दोनों तरफ से खींच तान करके भेद बढ़ा रहे हैं।"

पिछले दिनों राजा साहब अपनी भाषा में उर्दूपन अधिक ला चले थे, जिसके कारण शायद उनके अफसर डाइरेक्टर शिक्षा-विभाग हुए हों, अथवा सरकारी कचहरियों में उर्दू के स्थान पर हिंदी के प्रचार के अर्थ बहुत उद्योग करके भी हताश हो, कदाचित उन्होंने यह सिद्धांत कर लिया था कि, अब हिंदी को ही उर्दू बना चलो। क्योंकि राजभाषा से प्रजा को परिचित करना अति ही आवश्यक है। जो हो, उन्होंने पाठ्य पुस्तकों में अपनी भाषा की शैली बदल दी। तृतीय भाग इतिहास 'तिमिरनाशक' के अंत की भाषा खरी, वरंच उच्च कोटि की उर्दू कही जा सकती है। जिसे कम लियाकत के मुदर्रिस तो प्रायः समझ भी नहीं सकते, पढ़ाते क्या ? वैसा

ही उन्होंने अपनी भाषा के लिये एक व्याकरण भी बनाया, जिसमें फ़ारसी और अरबी के नियम और गर्दान लिखकर अवश्य ही हमारी भाषा में एक अच्छी वस्तु छोड़ गये। पर यह उस काम के लिये उपयुक्त नहीं, जिसके लिये उनका श्रम था। यह तो अनहोनी बात थी कि दूसरे वर्णों द्वारा दूसरी-दूसरी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान हो सके। 'कविवचन सुधा' में बहुत दिनों तक उसकी समालोचना हुई थी। फजीयत राय के नाम से बाबू हरिश्चंद्र लिखते थे। उस एक लेखमाला का एक शीर्षक ही था कि—"भला यह व्याकरण पढ़ावेगा कौन ?"

हमारी गवर्नमेंट यह चाहती है कि एक ही भाषा दो भिन्न-भिन्न अक्षरों में लिखी जाय। परंतु यह कब संभव है ? परिणाम यह होता है कि हिंदी उर्दू बनती जाती है। क्योंकि फारसी अक्षरों में हिंदी के शब्द पढ़े ही नहीं जाते, इसीसे हिंदी का गला घोंटा जाता है। निदान जब तक सरकार अपनी इस भूल को न सुधारेगी, प्रजा की दशा न सुधरेगी और न हमारी भाषा का उद्धार होगा।

बाबू हरिश्चंद्र आरंभ में उन्हीं के अनुकरणकर्ता हुए। वे राजा साहिब को अपना गुरू मानते थे। कुछ दिनों दोनों की भाषाएँ एक-सी थीं। परंतु पीछे से दोनों की शैलियाँ भिन्न-भिन्न हो गईं। वे विदेशी शब्दों पर झुके और ये स्वदेशी शब्दों पर। वे कदाचित गवर्नमेंट की इच्छा से लाचार थे

क्योंकि तब से आजतक पाठ्य पुस्तकों की भाषा उर्दू मिली ही देखी गई। बहुतेरों ने इधर नई नई पुस्तकें लिखीं, परंतु भाषा उनकी निरी उर्दू ही है। योंही लेख भी सर्वथा सूखे और निर्जीव से, जिनमें राजा साहिब की उर्दू मिली भाषा की शतांश भी रोचकता और पुष्टता नहीं। कुछ अन्य लोग भी इसी भ्रम में पड़कर अपनी भाषा में उर्दूपन ला चले। कदाचित् उन्होंने समझा कि फारसी अरबी शब्द भर देने से ही इबारत दिलचस्प हो जायगी। परंतु सिर्फ इसी एक बात से उस नवात की मिठास कब आ सकती थी।

अस्तु, राजा साहब केवल पाठ्य-पुस्तकों को ही लिख गये और वे केवल अच्छी गद्य ही लिख सकते थे। परंतु बाबू हरिश्चंद्र ने साहित्य का कोई भाग ही अछूता न छोड़ा और सब में अपनी समान योग्यता दिखलाकर सभी रुचि के लोगों के मन में स्थान किया। न स्वयं उन्होंने ही लिखा, परंतु औरों से भी लिखवाया एवं लोगों में लिखने-पढ़ने की रुचि फैलाई। लिखने में स्वयं इतने अभ्यस्त और सिद्ध-हस्त थे कि यदि यह कहें कि यावज्जीवन उनकी लेखनी चलती ही रही तो भी अत्युक्त न होगा। वास्तव में वे पढ़ने-लिखने ही में व्यस्त रहते थे और विचित्रता तो यह कि सैकड़ों मनुष्यों में बैठे भांति-भांति का गप्पाष्टक होता तो भी उनकी लेखनी चलती ही जाती थी। इसीसे वे इतनी थोड़ी सी अवस्था में इतने ग्रंथ लिख सके।

चार सामयिक पत्रों का संपादन भो करते थे अर्थात् कवि-वचन सुधा, हरिश्चंद्र मैग्जीन वा हरिश्चंद्र चंद्रिका, बाला-बोधिनी (जो बरस ही छः महीने चली) और भगवनभक्ति-तोषिणी (यह दो ही चार संख्या छप सकी) सब में प्रधान कविवचनसुधा थो, जो प्रथम मासिक, फिर साप्ताहिक हुई और जो उनको ख्याति की प्रधान सामग्री थी। उससे आगे नागरी में दो एक पत्र और भी छपते थे, परंतु वह गिनती के योग्य नहीं थे, अतः प्रथम पत्र यही कहा जा सकता है। पहिले उसमें केवल कवित्तों का संग्रह फिर काल के सब प्रकार के ग्रंथ, फिर समाचार आदि छपने लगे। उस समय जितने अच्छे लेखक थे सभी उसमें लिखते थे, जिनमें से कई पीछे से पत्र संपादक हो गये और अपने अपने नये पत्र निकाल चले।

बाबू हरिश्चंद्र न केवल अनेक प्रकार के गद्य ही लिख सकते थे, किंतु कविता भी सभी चाल की करते थे। उनके पिता उनसे भी अच्छे कवि थे, किंतु केवल पुरानी चाल की व्रजभाषा के ही। बाबू हरिश्चंद्र सभी कुछ लिख सकते थे, परंतु समाचार पत्र संपादक वैसा कोई फिर आज तक न हो सका। हँसी दिल्लगी के मजमून तो वह ऐसे लिखते थे कि क्या कहना!

राजा साहब यदि कनसर्वेटिव थे, तो बाबू साहब लिबरल। वे यदि सदैव राजा के पक्षपाती थे तो ये प्रजा के। यदि वे अपनी उन्नति को प्रधान समझते, तो ये देश और जाति को

उन्नति को। इसीसे उनसे और इनसे वैमनस्य भी बढ़ा। क्रमशः उन्होंने इनकी वृद्धि में बड़ी हानि की और इन्होंने उनको देश की आँखों से गिरा दिया। अंत तक इन दोनों का बैर बढ़ता ही गया और मेल न हुआ।

जो हो, दोनों काशीवासी गुरु और चेले हमारे समान सम्मान के भाजन हैं, क्योंकि हमारी वर्तमान भाषा के यही दो प्रधान संस्कारक वा परिपोषक हैं। इस देश रूपी खेत में जो हमारी भाषा का बीज छिप रहा था, उसे लल्लूलाल रूपी वर्षा ऋतु ने अंकुरित किया, तो शिवप्रसाद शरद ने उसे बेल-बूटे का आकार दिया और हरिश्चंद्र वसंत ने उसमें फूल-फल दिखलाये अथवा यों कहें कि यदि लल्लूलाल उसके जन्मदाता तो राजा साहब उसके पालनकर्ता हैं, क्योंकि उन्होंने उस भाषा को ऐसा रूप दिया कि जिससे वह उर्दू से टक्कर लेने में समर्थ हुई, जिसे पढ़कर लोग लेख का आनंद पाने लगे और यह समझ सके कि उर्दू को छोड़कर हिंदी में भी लेख-लालित्य दिखलाया जा सकता है। बाबू साहब मानो उसके शिक्षक थे कि जो उसे अनेक गुणों से युक्तकर लोगों को दिखला सके, अथवा राजा साहब की जगाई भूख को वह भांति भांति की भोजन-सामग्री देकर बाचक-वृंद को तृप्त कर सके।

होली है

[श्रीप्रतापनारायण मिश्र]

तुम्हारा सिर है! यहां दरिद्र की आग के मारे होला (अथवा होरा—भुना हुआ हरा चना) हो रहे हैं इन्हें होली है, हें!

अरे कैसे मनहूस हो ? बरस बरस का त्योहार है, उसमें भी वही रोनी सूरत! एक बार तो प्रसन्न होकर बोलो होरी है!

अरे भाई हम पुराने समय के बंगाली भी तो नहीं हैं कि तुम ऐसे मित्रों की ज़बरदस्ती से होरी (हरि) बोल के शांत हो जाते। हम तो बीसवीं शताब्दी के अभागे हिंदुस्तानी हैं, जिन्हें कृषि, वाणिज्य, शिल्प सेवादि किसी में भी कुछ तंत नहीं है। खेतों की उपज अति वृष्टि, अनावृष्टि, जंगलों का कट जाना, रेलों और नहरों की वृद्धि इत्यादि ने मट्टी करदी है। जो कुछ उपजता भी है वह कट के खलियान में नहीं आने पाता, ऊपर ही ऊपर लद जाता है। रोजगार व्यवहार में कहीं कुछ देख नहीं पड़ता। जिन बाज़ारों में, अभी दस वर्ष भी नहीं हुए, कंचन बरसता था वहां अब दूकानें भाँय भाँय होती हैं। देशी कारीगरी को देश ही वाले नहीं पूछते। विशेषतः जो छाती ठोंक ठोंक ताली बजवा बजवा कागज़ों के तख्ते रँग रँग कर देशहित के गीत गाते फिरते

हैं वह और भी देशी वस्तु का व्यवहार करना अपनी शान से बईद समझते हैं। नौकरी बी० ए०, एम० ए०, पास करने वालों को भी उचित रूप में मुश्किल से मिलती है। ऐसी दशा में हमें होली सूझती है कि दिवाली !

यह ठीक है। पर यह भी तो सोचो कि हम तुम वंशज किसके हैं ! उन्हीं के न, जो किसी समय बसंत पंचमी ही से :—

"आई माघ की पांचें, बूढ़ी डोकरियाँ नाचैं"

का उदाहरण बन जाते थे, पर जब इतनी सामर्थ्य न रही तब शिवरात्रि से होलिकोत्सव का आरंभ करने लगे। जब इसका भी निर्वाह कठिन हुआ तब फागुन सुदी अष्टमी से—

"होरी मध्ये आठ दिन, व्याह मांहि दिन चार।
शठ पंडित, वेश्या बधू सबै भये इकसार॥"

का नमूना दिखलाने लगे। पर उन्हीं आनंदमय पुरुषों के वंश में होकर तुम ऐसे मुहर्रमी बने जाते हो कि आज त्यौहार के दिन भी आनंद बदन से होली का शब्द तक उच्चारण नहीं करते। सच कहो, कहीं 'होली बाइबिल' की हवा लगने से हिंदूपन को सलीब पर तो नहीं चढ़ा दिया ?

तुम्हें आज क्या सूझी है जो अपने पराए सभी पर मुँह चला रहे हो ? होली बाइबिल अन्य धर्म का ग्रंथ है, उसके मानने वाले बिचारे पहिले ही से तुम्हारे साथ का भीतरी-बाहरी संबंध छोड़ देते हैं। पहली उमंग में कुछ दिन तुम्हारे मत पर

होली है]

कुछ चोट चला भी दिया करते थे, पर अब बरसों से वह चर्चा भी न होने के बराबर हो गई है। फिर उन छूटे हुए भाइयों पर क्यों बौछार करते हो ? ऐसी ही लड़ास लगी हो तो उससे जा भिड़ो जो अभी तुम्हारे ही कहलाते हैं, तुम्हारे ही साथ रोटी-बेटी का व्यवहार रखते हैं, तुम्हारे भी दो चार मान्य ग्रंथों के माननेवाले बनते हैं, पर तुम्हारे ही देवता पितर इत्यादि की निंदा कर करके तुम्हें चिढ़ाने ही में अपना धर्म और अपने देश की उन्नति समझते हैं।

अरे राम राम ! पर्व के दिन कौन चरचा चलाते हो ! हम तो जानते थे तुम्हीं मनहूस हो, पर तुम्हारे पास बैठे सो भी नसूढ़िया हो जाय। अरे बाबा दुनियां भर का बोझा परमेश्वर ने तुम्हीं को नहीं लदा दिया। यह कारखाने हैं, भले बुरे लोग और दुःख सुख को दशा होती ही हुआती रहती है। पर मनुष्य को चाहिए कि जब जैसे पुरुष और समय का सामना आ पड़े तब तैसा बन जाय। मनको किसी झगड़े में फँसने न दे।

आज तुम सचमुच कहीं से भांग खाकर आये हो, इसी से बेसिर-पैर की हाँक रहे हो। अभी कल तक प्रेम सिद्धांत के अनुसार यह सिद्ध करते थे कि मन का किसी ओर लगा रहना ही कल्याण का कारण है, और इस समय कह रहे हो कि 'मन को किसो झगड़े में फँसने न दो'। वाह ! भला तुम्हारी किस बात को मानें ?

हमारो बात मानने का मन करो तो कुछ हो ही न जाओ ! यही तो तुम से नहीं होता । तुम तो जानते हो कि हम चोरी-चहारी सिखावेंगे ।

नहीं यह तो नहीं जानते । और जानते भी हों तो बुरा न मानते । क्योंकि जिस काल में देश का अधिकांश निर्धन, निर्बल, निरुपाय हो रहा है, उसमें यदि कुछ लोग "बुभुक्षितः किं न करोति पापं" का उदाहरण बन जाँय तो कोई आश्चर्य नहीं है। पर हाँ यह तो कहेंगे कि तुम्हारी बातें कभी समझ में नहीं आतीं । इससे मानने को जी नहीं चाहता ।

यह ठीक है, पर याद रक्खो कि हमारी बातें मानने का मानस करोगे तो समझ में भी आने लगेंगी, और प्रत्यक्ष फल भी देंगी ।

अच्छा साहब मानते हैं । पर यह तो बतलाइए जब हम मानने के योग्य ही नहीं हैं तो कैसे मान सकते हैं ?

छिः ! क्या समझ है ! अरे बाबा, हमारी बातें मानने में योग्य होना और हो सकना आवश्यक नहीं हैं । जो बातें हमारे मुँह से निकलती हैं वह वास्तव में हमारी नहीं हैं, और उनके मानने की योग्यता और शक्ति हमको तुमको क्या किसी को भी तीन लोक और तीन काल में नहीं है। पर इसीमें भी संदेह न करना कि जो कोई चुपचाप आँखें मीच के मान लेता है वह परमानंद-भागी हो जाता है ।

होली है]

हि हि ! ऐसी बातें मानने तो कौन आता है, पर सुनकर परमानंद तो नहीं, हाँ, मसखरेपन का कुछ मज़ा जरूर पा जाता है।

भला हमारी बातों से तुम्हारे मुँह से हि हि तो निकली ! इस तोबड़ा से लटकते हुए मुँह के टाँकों के समान दो तीन दाँत तो निकले। और नहीं तो, मसखरेपन ही का सही, मजा तो आया। देखो, आँखें मिट्टी के तेल को रोशनी और कुल्हिया के ऐनक की चमक से चौंधिया न गई हों तो देखो ! छत्तीसों जात, वरंच अजात के जूठे गिलास की मदिरा तथा भच्छ अभच्छ की गंध से अक्किल भाग न गई हो तो समझो। हमारी बातें सुनने में इतना फल पाया है तो मानने में न जाने क्या प्राप्त होगा। इसी से कहते हैं, भैय्या मान जाव, राजा मान जावो, मुन्ना मान जावो। आज मन मार के बैठ रहने का दिन नहीं है। पुरुखों के प्राचीन सुख-सम्पत्ति को स्मरण करने का दिन है। इससे हँसो, बोलो, गाओ-बजाओ त्योहार मनाओ और सब से कहते फिरो—होली है।

हो तो ली ही है। नहीं तो अब रही क्या गया है।

खैर जो कुछ रह गया है उसी के रखने का यत्न करो, पर अपने ढंग से, न कि विदेशी ढंग से। स्मरण रक्खो कि जबतक उत्साह के साथ अपनी ही रीति-नीति का अनुसरण न करोगे तबतब कुछ न होगा। अपनी बातों को बुरी दृष्टि से

देखना पागलपन है। रोना निस्साहसों का काम है। अपनी भलाई अपने हाथ से हो सकती है। माँगने पर कोई नित्य डबल रोटी का टुकड़ा भी न देगा। इससे अपनपना मत छोड़ो। कहना मान जाव। आज होली है।

हाँ, हमारा हृदय तो दुर्दैव के बाणों से पूर्णतया होली ('होल' अंगरेजी में छेद को कहते हैं, उससे युक्त) है! हमें तुम्हारी सी जिंदादिली (सहृदयता) कहाँ से सूझे?

तो सहृदयता के बिना कुछ आप कर भ नहीं सकते। यदि कुछ रोए पीटे दैवयोग से हो भी जायगा तो "नकटा जिया बुरे हवाल" का लेखा होगा। इससे हृदय में होल (छेद) हैं तो उन पर साहस की पट्टी चढ़ाओ। मृतक की भाँति पड़े पड़े काँखने से कुछ न होगा। आज उछलने ही कूदने का दिन है। सामर्थ्य न हो तो चलो किसी हौली (मद्यालय) से थोड़ी सी पिला लावें, जिसमें कुछ देर के लिए होली के काम के हो जाओ। यह नेस्ती काम की नहीं।

वाह तो क्या मदिरा पिलाना चाहते हो?

यह कलयुग है। बड़े बड़े बाजपेयी पीते हैं। पीछे से बल, बुद्धि, धर्म, धन, मान, प्रान सब स्वाहा हो जाय तो बला से! पर थोड़ी देर उसकी तरंग में "हाथी मच्छर, सूरज जुगनू" दिखाई देता है। इससे और मनोविनोद के अभाव में उसके सेवकों के लिए कभी कभी उसका सेवन कर लेना इतना बुरा

नहीं है जितना मृतचित्त बन बैठना। सुनिये! संगीत, साहित्य, सुरा और सौंदर्य्य के साथ यदि नियम-विरुद्ध बर्ताव न किया जाय तो मन की प्रसन्नता और एकग्रता कुछ न कुछ लाभ अवश्य होती है। और सहृदयता की प्रीति के लिए इन दो गुणों की आवश्यकता है जिनके बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है।

बलिहारी है महाराज इस क्षणिक बुद्धि की! अभी तो कहते थे कि मन को किसी झगड़े में फँसने न देना चाहिए और अभी कहने लगे कि मन की एकाग्रता के बिना सहृदयता तथा सहृदयता के बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है। धन्य हैं यह सरगपत्तालो बातें! भला हम आपको अनुरागी समझें या विरागी?

अरे हम तो जो हैं वही हैं, तुम्हें जो समझना हो समझ लो। हमारी कुछ हानि नहीं है। पर यह सुन रक्खो, सीख रक्खो, समझ रक्खो कि अनुराग और विराग वास्तव में एक ही हैं। जबतक एक ओर अचल अनुराग न होगा तब-तक भक्त के खटराग में विराग नहीं हो सकता और जबतक सब ओरसे आंतरिक विराग न हो जाय तबतक अनुराग का निर्वाह सहज नहीं है। इसीसे कहते हैं कि हमारी बातें चुपचाप मान लिया करो, बहुत अक्किल को दौड़ा दौड़ा के थकाया न करो हँसी में आनंद भी आता है और हृदय का कपाट भी खुल जाता है। साधारण बुद्धिवाले लोग भगवान,

भूतनाथ, श्मशान-विहारी, मुँडमाला धारी को वैराग्य का अधिष्ठाता समझते हैं, पर वह आठों पहर अपनी प्यारी पर्वत-राज-नंदनी को वामांग ही में धारण किये रहते हैं और प्रेम-शास्त्र के आचार्य हैं। इसी प्रकार भगवान् कृष्णचंद्र को लोग शृंगार-रस का देवता समझते हैं, पर उनकी निर्लिप्तता गीता में देखनी चाहिए। जिसे सुनाके उन्होंने अर्जुन का मोहजाल छुड़ाके वर्तमान कर्तव्य के लिए ऐसा दृढ़ कर दिया था कि उन्होंने सबकी दया-मया मोह-ममता को तिलांजलि देके मारकाट आरंभ कर दिया। इन बातों से तत्त्वग्राहिणी समझ भली भांति समझ सकती है कि भगवान् प्रेमदेव की अनंत महिमा है। वहाँ अनुराग बिराग, सुख-दुःख, मुक्ति-साधन सब एक ही हैं। इसीसे सच्चे समझदार संसार में रह कर सब कुछ देखते-सुनते, करते-धरते हुए भी संसारी नहीं होते। केवल अपनी मर्यादा में बने रहते हैं। और अपनी मर्यादा वही है जिसे सनातन से समस्त पूर्व-पुरुष रक्षित रखते आये हैं और उनके सुपुत्र सदा मानते रहेंगे। काल, कर्म, ईश्वर अनुकूल हो वा प्रतिकूल, सारा संसार स्तुति करे वा निंदा, वाह्य-दृष्टि से लाभ देख पड़े वा हानि, पर वीर पुरुष वही है जो कभी कहीं किसी दशा में अपनेपन से स्वप्न में भी विमुख न हो। इस मूलमंत्र को भूलके भी न भूले कि जो हमारा है वही हमारा है। उसी से हमारी शोभा है और उसीसे हमारा वास्तविक कल्याण है।

होली है]

एतदनुसार आज हमारी होली है। चित्त शुद्ध करके वर्ष-भर की कही सुनी क्षमा करके, हाथ जोड़ के, पाँव पड़के, मित्रों को मनाके, बाहें पसार के उनसे मिलने और यथा-सामर्थ्य जी खोलके परस्पर की प्रसन्नता संपादन करने का दिन है। जो लोग प्रेम का तत्त्व तनिक भी नहीं समझते, केवल स्वार्थ-साधन ही को इतिकर्तव्य समझते हैं, पर हैं अपने ही देश-जाति के, उनसे घृणा न करके ऊपरी आमोद-प्रमोद में मिलाके समयांतर में मित्रता का अधिकारी बनाने की चेष्टा करने का त्यौहार है। जो निष्प्रयोजन हमारी बात बात पर मुकरते ही हों उन्हें उनके भाग्य के आधीन छोड़के अपनी मौज में मस्त रहने का समय है। इसीसे कहते हैं नई बहू की नाईं घर में न घुसे रहो, पर्द के दिन मन मारके न बैठो, घर-बाहर, हेती-व्यवहारी से मानसिक आनंद के साथ कहते फिरो—

—हो ओ ओ ली ई ई ई है !

धम्मपदम् (धर्मपद)

[श्रीरवींद्रनाथ टैगोर]

संसार में जो कई एक श्रेष्ठ धर्म-ग्रंथ हैं उनमें 'धम्मपद' भी एक है। बौद्धों का कहना है कि इस ग्रंथ में जितनी बातें हैं वे स्वयं भगवान् बुद्ध की कही हुई हैं और बुद्ध की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद यह ग्रंथ संकलित हुआ है।

निश्चित रूप से कहना तो कठिन है कि इस ग्रंथ के सभी उपदेश बुद्ध के कहे हुए हैं या नहीं। परंतु कम-से-कम यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि यह सब नीति-वाक्य भारतवर्ष में बुद्ध के समय में तथा उसके पहले के समय में भी प्रचलित थे। क्योंकि इस ग्रंथ में बहुत से ऐसे श्लोक देखे जाते हैं जो महाभारत, पंच-तंत्र, मनुस्मृति आदि ग्रंथों में भी देखे जाते हैं। यह बात पंडित सतीशचंद्र विद्याभूषण महाशय ने इस ग्रंथ के बंगला अनुवाद की भूमिका में दिखलाई है।

यहाँ इसपर तर्क करना व्यर्थ है कि किसने किससे यह नीति-वाक्य लिए हैं। यही मान लेना ठीक है कि यह सब उपदेश भारतवर्ष में बहुत दिनों से चले आ रहे हैं। हमारा यह देश इसी प्रकार के अनेक विचार प्रकट करता रहा है।

बुद्धदेव अपने चारों ओर विखरे हुए विचारों को सहज में एकत्रकर तथा अपनाकर उन्हें चिरस्थायी बना गये हैं। बुद्ध देव ने चारों ओर विखरे हुए उपदेशों को जमा करके मनुष्यों के लिए उपयोगी बना दिया है। अतएव जिस प्रकार भगवत्गीता में भारतवर्ष के विचारों का साक्षात् परिचय मिलता है, गीता के उपदेशक ने जिस प्रकार भारतीय विचारों को एक जगह पर सुश्रृंखला से स्थापित कर दिया है, उसी प्रकार धम्मपदम् ग्रंथ में भी भारतवर्ष के हृदय का बहुत कुछ परिचय प्राप्त होता है। इसी कारण क्या धम्मपदम् में और क्या गीता में बहुतसी ऐसी बातें हैं जिनकी छाया भारत के अन्य ग्रंथों में देखी जाती हैं।

जो लोग धर्म-ग्रंथों को धर्म-ग्रंथ समझकर पढ़ते हैं उनको उन ग्रंथों से क्या लाभ होता है—इसपर हम यहाँ विचार करना नहीं चाहते। इस समय हम ऐतिहासिक दृष्टि से ही इस विषय को देखेंगे। इसी कारण हमने सार्वभौमिक भाव से न दिखाकर केवल यही बात उठाई है कि भारत के साथ इसका क्या संबंध है।

जिस प्रकार सब मनुष्यों के जीवन-चरित्र एक-से नहीं होते उसी प्रकार सब देशों के इतिहास भी समान नहीं होते। इस कारण हम जब कहते हैं कि भारतवर्ष में इतिहास की सामग्री नहीं मिलती तब इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि भारत में यूरोप के इतिहासों के ढंग की सामग्री नहीं मिलती। अर्थात्

भारतवर्ष का इतिहास राष्ट्रीय इतिहास नहीं है। भारतवर्ष में एक या अनेक जातियाँ मिलकर कभी राष्ट्र-चक्र नहीं बाँध सकीं। इस देश में कौन कब राजा हुआ, उसने कितने दिनों तक राज्य किया, इन बातों को लिखकर इन्हें इतिहास का रूप देने की प्रवृत्ति भारतवासियों में कभी नहीं हुई।

भारत की प्रवृत्ति यदि राष्ट्र-गठन की ओर होती तो अवश्य ही आज भारत में बहुत बड़ी-बड़ी इतिहास की सामग्रियाँ देखने को मिलतीं और उनसे आधुनिक इतिहासज्ञों का काम भी बहुत कुछ सहज हो जाता। किंतु यह देखकर मैं इस बात को किसी तरह स्वीकार नहीं कर सकता कि भारत ने अपने अतीत और भविष्य को किसी एक सूत्र में ग्रंथित नहीं किया। उनका कोई इतिहास नहीं है—नहीं माना जाता। वह सूत्र सूक्ष्म है, परंतु उसका प्रभाव साधारण नहीं है। स्थूल भाव से वह देख नहीं पड़ता, परंतु उसीने अब तक हमें अपने पूर्वजों से अलग होने नहीं दिया। उसने सर्वत्र केवल वैचित्र्यहीन साम्यवाद का ही प्रचार नहीं किया, किंतु सारी विचित्रता और विषमता के भीतर उसने एक मूल-गत अदृश्य संयोग-सूत्र पिरो दिया। अतएव महाभारत से वर्णित भारत तथा इस बीसवीं सदी का भारत, बहुत-सी बड़ी बड़ी बातों में भिन्न होने पर भी एक ही बने हैं। दोनों की नाड़ियों में एक ही खून बह रहा है।

यही संयोग भारत के लिये सब से अधिक सत्य है और इस संयोग का ही इतिहास भारत का यथार्थ इतिहास है। यह संयोग किसके द्वारा हुआ है। यह बात तो पहिले ही कही जा चुकी है कि राष्ट्रीय-स्वार्थ इस संयोग का मूल कारण नहीं है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि धर्मियों ने ही उक्त संयोग बना रक्खा है।

परंतु धर्म क्या है—इस विषय में बड़े बड़े तर्क किये जा सकते हैं। भारतीय-धर्म के वाह्य-रूप में समय-समय पर विशेष परिवर्तन भी हुए हैं।

परिवर्तन के माने पिछड़ जाना नहीं है। बाल्यावस्था युवावस्था के रूप में परिवर्तित होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि बाल्यावस्था का नाश हो जाता है, किंतु बाल्यावस्था का यौवन के रूप में विकास होता है। यूरोप के इतिहास में भी राष्ट्रीय प्रकृति में बड़े बड़े परिवर्तन हुए हैं। उस परिवर्तन के परिणति (पुष्टि) का चेहरा दिखला देना ही इतिहास-वेत्ता का काम है।

यूरोप की जातियों ने अनेक प्रयत्न और परिवर्तनों के द्वारा राष्ट्र संगठित करने का उद्योग किया है। और भारतवासियों ने अनेक प्रयत्न और परिवर्तनों के द्वारा धर्म के समाज में एक आकार देने का प्रयत्न किया है। केवल एक इसी चेष्टा के कारण प्राचीन भारत के साथ आधुनिक भारत का मेल है।

यूरोप में धर्म की चेष्टा ने आंशिकभाव से काम किया है। पूरी तौर से सब तरह का काम राष्ट्र की चेष्टा ही से हुआ है। धर्म की अलग उत्पत्ति होने पर भी वह राष्ट्र का अंग बना दिया गया है। दैव-संयोग से जहाँ यह बात नहीं हुई वहां राष्ट्र के साथ धर्म का चिरस्थायी विरोध हो गया है।

भारतवर्ष में मुगलों के शासनकाल में शिवाजी के नेतृत्व ने जब राष्ट्र संगठन की चेष्टा में सिर उठाया था, तब वह धर्म पर लक्ष्य रखना नहीं भूला था। शिवाजी के धर्म गुरु स्वामी रामदास इस उद्योग के प्रधान परिचालक थे। अतएव यह देखा जाता है कि भारतवर्ष में राष्ट्र संगठन ने अपने को धर्म का एक अंग बना लिया था।

पालिटिक्स और नेशन ये दो शब्द जैसे खास यूरोप के हैं, वैसेही धर्म शब्द भारत का है। पालिटिक्स और नेशन शब्दों का ठीक अनुवाद जैसे हमारी भाषा में नहीं हो सकता वैसेही धर्म का प्रतिशब्द यूरोप की भाषाओं में नहीं मिल सकता। अतएव अंगरेजी रिलीजन के रूपमें धर्म की कल्पना करके अक्सर हम भ्रम में पड़ जाते हैं। यही कारण है कि "धर्म चेष्टा का एका ही भारत का एका है" यह बात आजकल के लोगों को असंगत सी जान पड़ेगी।

साधारणतः मनुष्य किसी फल के लिये कोई काम करते हैं और उसी के द्वारा उनकी प्रकृति का परिचय प्राप्त होता है। जमा

करने के लिए भी धन कमाया जाता है और परोपकार करने के लिए भी। जो परोपकार के लिए धन कमाता है उनके धनार्जन के मार्ग में अनेक बाहरी विघ्न उपस्थित होते हैं और उन्हें उन विघ्नों को सावधानी से हटाकर आगे बढ़ना पड़ता है। और जो केवल लोभ से ही धन कमाते हैं उनके लेखे में विघ्न-बाधायें कोई चीज ही नहीं हैं।

अब प्रश्न यह है कि भले कामों के लिए ही क्यों धन कमाया जाय। इस प्रश्न के उत्तर में यह सोचकर देखना होगा कि यह भारत क्या समझकर लोभ से बढ़कर त्याग को और प्रेम से बढ़कर श्रेय को मानता आता है।

जो मनुष्य बिलकुल अकेला है, जिसका संबंध किसीसे नहीं है, उसके लिए कोई भी काम भला या बुरा नहीं है। अतएव शुरू से ही आत्मा और अनात्मा के सत्य संबंध का निर्णय कर लेना आवश्यक है। सदा से भारत की यही प्रधान चेष्टा रही है कि इस संबंध का निर्णय करके उसी के अनुसार अपने जीवन के सब काम करो।

सब से बढ़कर आश्चर्य तो यह है कि यहाँ भिन्न भिन्न संप्रदायों ने भिन्न-भिन्न रूप से इस संबंध की मीमांसा की है किंतु 'व्यवहार' में सब एक ही जगह आकर मिल गये हैं।

एक संप्रदाय के लोग कहते हैं कि आत्मा अनात्मा में

कोई वास्तविक भेद नहीं है। जो भेद मालूम पड़ता है उसका कारण अविद्या है।

किंतु यदि आत्मा अनात्मा एक ही हैं, दो नहीं हैं तो फिर भले बुरे कर्म क्यों माने गये हैं? केवल अभिन्न कह देने से तो सहज में छुटकारा नहीं मिल सकता। जिस अज्ञान ने एक को दो बना दिया है उसको मिटाना होगा। नहीं तो माया के चक्र में पड़कर अनंत दुःख भोगने पड़ेंगे। इसी लक्ष्य पर दृष्टि रखकर भले और बुरे कामों का निर्णय करना होगा।

दूसरे संप्रदायवाले कहते हैं कि यह जो संसार चक्र घूम रहा है, इसके साथ हम भी वासना की डोर में बँधे हुए घूम रहे हैं और अनेक दुःख उठाते हैं, एक कर्म के द्वारा दूसरा और दूसरे के द्वारा तीसरा, इसी प्रकार हमने अनंत कर्मों की शृंखला बना रक्खी है। इस कर्म-पाश को काटकर मुक्त होना ही मनुष्य के लिए एकमात्र श्रेय है।

किंतु सब कर्मों को छोड़ देना ही ठीक है। किंतु नहीं, यहाँ भी इस तरह सहज में छुटकारा नहीं हो सकता। कर्म को इस तरह नियमित करना चाहिये जिससे उसका बंधन आप शिथिल पड़ जाय। इसी बात पर लक्ष्य रखकर कौन कर्म शुभ हैं और कौन अशुभ, इसका निर्णय करना होगा।

अन्य संप्रदायवाले कहते हैं कि यह संसार भगवान् की

लीला है। इसी लीला में भगवान् के प्रेम और आनंद का अनुभव कर सकने से ही मनुष्य-जीवन सार्थक होता है।

वास्तव में देखा जाय तो यह सार्थकता का उपाय भी पूर्वोक्त दोनों संप्रदायों के उपायों से भिन्न नहीं हैं। अपनी वासना को कम किये विना भगवान् की इच्छा का अनुभव नहीं किया जा सकता। भगवान् की इच्छा में अपनी इच्छा को छोड़ देने का ही नाम मुक्ति है। इसी मुक्ति को ध्यान में रखकर शुभाशुभ कर्मों का निश्चय करना होगा।

अद्वैतानंद को प्रधान माननेवाले भी वासना-मोह को काटने के लिए उद्यत हैं। जो कर्म-पाश से छूट जाना ही मुक्ति समझते हैं वे भी वासनाओं को जड़मूल से उखाड़ डालना चाहते हैं और जो भगवान् के प्रेम में अपने को मिला देना चाहते हैं वे भी विषय-वासना के त्याग के पक्षपाती हैं।

इन भिन्न-भिन्न संप्रदायों के उपदेश यदि केवल शाब्दिक होते, यदि वे उपदेश केवल जानने और सुनने ही के लिए होते तो निःसंदेह हम लोगों में आपस में ही बड़ा विरोध होता। परंतु वैसा नहीं है। इन संप्रदायों ने अपने इन भिन्न-भिन्न सिद्धांतों के अनुसार काम करने का भी प्रयत्न किया है। वे सिद्धांत चाहे जितने सूक्ष्म या स्थूल हों और उनके अनुसार कार्य करने के लिये चाहे जितनी दूर तक जाना पड़े, हमारे धर्म-गुरुओं ने निर्भीक चित्त से सब प्रकार से

उन सिद्धांतों को कर्म के द्वारा सफल करने का प्रयत्न किया है। भारत ने कभी किसी बड़े काम को असाध्य या सांसारिक जीवन के साथ असंगत समझकर कायरता के मारे केवल कहने की बात नहीं बना रक्खा। यही कारण है कि जो भारत एक समय मांस-भोजी था वही आज प्रायः निरामिषाहारी हो गया है। संसार में ऐसे दृष्टांत और कहीं नहीं पाये जाते। जो यूरोप-जातीय परिवर्तन में सुभीता ही देखते हैं वे यह कह सकते हैं कि खेती का चलन होने पर आर्थिक सुविधा के लिए भारत ने गोमांस-भक्षण का परित्याग किया है। परंतु मनु आदि धर्म-शास्त्रों में विधान रहने पर भी सब प्रकार का मांस खाना, यहाँ तक कि मत्स्य-भोजन भी, भारत के अनेक स्थानों से उठ गया है। किसी प्राणी की हिंसा मत करो—इस आज्ञा का पालन जैन लोग बड़ी दृढ़ता से करते हैं। इस आज्ञा के पालन में वे सांसारिक सुविधा-असुविधा की परवा नहीं रखते।

अस्तु। तत्वज्ञान जिस पद तक पहुंचा है वहाँ तक कर्म को भी भारतवर्ष घसीट ले गया है। भारत ने तत्व और कर्म में भेद नहीं माना। अतएव यहां कर्म ही धर्म माना जाता है। हम कहते हैं कि मनुष्यों के सारे कर्मों का अंतिम लक्ष्य है कर्म से मुक्ति और मुक्ति के लिये कर्म करना ही धर्म है।

यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि भारतियों के धार्मिक सिद्धांतों में चाहे जितना विरोध हो, किंतु कर्म में कुछ

भी भेद नहीं है। अद्वैत-तत्व के अनुभव को ही मुक्ति मानिये, या प्राचीन संस्कारों के विनाश को ही मुक्ति कहिए, अथवा भगवान के अतुल प्रेमानंद के अनुभव में ही मुक्ति समझिए, प्रकृति-भेद के अनुसार चाहे जो मुक्ति का आदर्श अपनी ओर चित्त को आकृष्ट करे, मुक्तिमार्ग में जाने के उपायों में एक तरह की एकता है। मनुष्य के सब कर्मों को निवृत्ति की ओर लगाना ही एकता है। एक सीढ़ी जैसे दूसरी सीढ़ी को नांघने का उपाय है वैसेही भारत में कर्म ही कर्म को नांघने का उपाय माना गया है। भारत के समस्त शास्त्र और पुराण यही उपदेश देते हैं। भारत का समाज इसी भाव पर स्थापित हुआ है।

यूरोप ने कर्म को ही कर्म से मुक्ति होने की सीढ़ी बनाया। उसका लक्ष्य केवल कम ही है। इसी कारण यूरोप के कर्म-युद्ध का अंत नहीं है। वहाँ का कर्म दिनों-दिन विचित्र और वृहत् होता जाता है वहाँ के सभी मनुष्यों का उद्देश्य है कर्म में सफलता पाना। यूरोप का इतिहास कर्म का ही इतिहास है।

यूरोप की दृष्टि में कर्म का वड़ा महत्व है। अतएव कर्म करने के संबंध में सब स्वाधीनता चाहते हैं। हमारी जो इच्छा है वही करेंगे। वह स्वाधीन इच्छा जहाँ पर दूसरे की काम करने की स्वाधीनता को मिटाती है, वहीं केवल कानून की जरूरत है। इस कानूनी शासन के बिना वहाँ के समाज में

हर एक की यथासंभव स्वाधीनता रह ही नहीं सकती। अतएव यूरोप के समाज में सारा शासन और शासन का अभाव प्रत्येक मनुष्य की इच्छा को स्वाधीन बनाने के लिए ही कल्पित है।

भारतवर्ष ने भी स्वाधीनता चाही है, परंतु वह स्वाधीनता, एकदम सब कर्मों से स्वाधीन होना है। हम जानते हैं कि हम लोग जिसको संसार कहते हैं उसमें कर्म का ही कर्तृत्व है मनुष्य उसका वाहनमात्र है। जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यंत हम लोग एक वासना के अनंतर दूसरी वासना, एक कर्मी के पीछे दूसरे कर्मी को लादे रहते हैं। दम लेने की भी फुरसत नहीं मिलती। अंत में उन कर्मों को दूसरे के सिर लादकर एकाएक हम मृत्यु के गढ़े में गिर जाते हैं। वासनाओं की चोट से जन्म भर अनंत कर्म करते जाना एक प्रकार की गुलामी है। इसी गुलामी की जड़ उखाड़ना भारत का अभीष्ट है।

इस प्रकार लक्ष्य के भिन्न होने के कारण ही यूरोप ने अपनी वासनाओं को यथासंभव स्वाधीनता दे दी है और भारत ने उन्हें यथासंभव कम करने का उद्योग किया है। वासना से किसी दिन भी शांति प्राप्त होने की आशा नहीं है। वह परिणाम-हीन कर्म करने की चेष्टा को जगाया करती है। इसीको हम वासना का ऊधम समझते हैं और उसे दूर करने का उद्योग करते हैं। यूरोप का कहना है कि वासना किसी परिणाम पर नहीं पहुंचती, वह निरंतर हमारी उद्योग-शक्ति को जगाये रहती

है, यही उसका गौरव है। यूरोप कहता है कि 'प्राप्ति' में नहीं, 'प्रयत्न' में आनंद है। किंतु भारत कहता है कि जिसको तुमलोग 'प्राप्ति' समझते हो उसमें अवश्य ही आनंद नहीं है; क्योंकि उस प्राप्ति में हमारा प्रयत्न समाप्त नहीं हो जाता। उस सिद्धि के प्राप्त होने से हमारे प्रयत्न का अंत नहीं होता। वह प्राप्ति हमें दूसरी प्राप्ति की ओर खींच ले जाती है। प्रत्येक 'प्राप्ति' को 'परिणाम' समझकर हम धोखा खाते हैं। पीछे जान पड़ता है कि यह परिणाम नहीं है। जिसकी प्राप्ति में हमारी शांति है, हमारे प्रयत्न की समाप्ति है, उससे यह भ्रम हमें नष्ट कर देता है। यह भ्रम हमको किसी तरह छोड़ना नहीं चाहता। अतएव उस युक्ति से विरोध रखनेवाली वासना को हम कमजोर कर देंगे। हम कर्म पर विजय प्राप्त करेंगे, कर्म का प्रभुत्व अपने ऊपर न होने देंगे।

हम लोगों के गृह-धर्म, संन्यास-धर्म आहार-विहार आदि के नियम-संयम, वैरागी-भिक्षुकों के ज्ञान से लेकर तत्व-ज्ञानियों की शास्त्र-व्याख्या तक में सर्वत्र इसी भाव की प्रधानता है। किसान से लेकर पंडित पर्य्यंत सभी यह कहते हैं कि हमने यह दुर्लभ मनुष्य-जन्म मुक्ति-मार्ग के अनुगामी होने के लिए, इस अनंत संसार-चक्र के आकर्षण से परित्राण पाने के लिए पाया है।

संस्कृत-भाषा में 'भव' शब्द का अर्थ है 'होना'। भव का बंधन अर्थात् होने का बंधन हम काटना चाहते हैं।

इस प्रकार की भयानक स्वाधीनता पाने के लिए प्रयत्न करना अच्छा है या बुरा, इसका विचार करना बड़ा ही कठिन है जो स्वभाव से ही विरक्त हैं, वे आसक्त मनुष्यों से मिलकर विपत्ति में पड़ सकते हैं। कभी कभी तो उनके लिए प्राण-संकट भी उपस्थित हो सकता है। अन्य पक्ष में यह कहा जा सकता है कि मरना जीना ही सार्थकता की चरमसीमा नहीं है एक समय फ्रांस में राष्ट्रीय-विप्लव उपस्थित हुआ था, उस समय फ्रांस ने अपनी स्वाधीनता के एक विशेष आदर्श की रक्षा करने का प्रयत्न किया था। उस चेष्टा में फ्रांस के प्राणों पर आ बनी थी। यदि उस प्रयत्न में फ्रांस की मृत्यु ही हो जाती तो क्या इससे उसका गौरव कम होता ? एक मनुष्य नदी में डूब रहा है, दूसरा मनुष्य उस डूबते हुए की रक्षा करने के लिए नदी में कूद पड़ा और वह डूब कर मर गया। किंतु एक तीसरा मनुष्य नदी के किनारे चुपचाप बैठा रहा। इसलिए क्या आप किसी के प्राण बचाने की चेष्टा को जान-जोखिम का काम कह कर बुरा कहेंगे ? इस समय पृथ्वी के सब देश वासना की आग को प्रबल और कर्म के उपद्रव को उत्कट बना रहे हैं। यदि आज भारतवर्ष जड़भाव से नहीं, मूढ़भाव से नहीं—जागते हुए सचेत-भाव से इस वासना-क्षय के आदर्श को, इस शांति की विजय-पताका को, विश्वव्यापी रुधिराक्त विप्लव के ऊपर अविचलित दृढ़ भाव से धारण करके मर सकता तो और

सब इसे चाहे जितना धिक्कारते, किंतु मृत्यु इसका अपमान कभी न करती।

इतिहास की बहुत सी सामग्री बौद्ध-साहित्य में वर्तमान है। बहुत दिनों से हम लोग इस शास्त्र का अनादर करते आए हैं। परंतु देखते हैं कि यूरोपीय पंडितगण इस शास्त्र के उद्धार के लिए प्रयत्न कर रहे हैं और हम लोग उनके पीछे-पीछे चलने के अवसर की प्रतीक्षा में बैठे हैं। हमलोगों के लिए यह बड़ी ही लज्जा की बात है। गवर्नमेंट के पास जाकर भिक्षा की याचना करने ही में हम लोगों का देश-प्रेम समाप्त हो जाता है। क्या सारे देश में चार-पाँच भी ऐसे मनुष्य नहीं निकलेंगे जो बौद्ध-शास्त्रों के उद्धार को अपने जीवन का व्रत बनावें? बौद्ध-साहित्य के ज्ञान के बिना इस समय भारत का इतिहास अंधा बना हुआ है। इस बात को जानकर भी क्या देश के नवयुवक इस ओर ध्यान न देंगे?

भाषा का विकास

[श्रीनलिनी मोहन सान्याल, भाषा-तत्व-रत्न, एम० ए०]

जबतक मनुष्य एकत्र होकर परस्पर सहायता नहीं करते तबतक मनुष्य जाति की उन्नति नहीं होती। अतएव उन्नति के लिये समाज का प्रयोजन है। समाज में श्रम-विभाग रहता है तथा परस्पर की सहायता मिलती है। हर एक व्यक्ति समाज के अधीन है। समाज से उसे कुछ मिलता है और वह भी समाज को कुछ देता है। नये वंश के मनुष्य पूर्वजों की संपत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं। एक व्यक्ति के मन में जो अनुभूतियाँ होती हैं, यदि दूसरे उसके पथ को सुगम नहीं कर देते तो वे इस प्रकार नहीं होती। दूसरों के अनुकरण से मनुष्य कुछ शारीरिक क्रियाओं में भी अभ्यस्त होता है और पीछे से अन्य वस्तुओं में वह इन क्रियाओं को उत्पन्न कर सकता है। यद्यपि ये क्रियाएँ शारीरिक हैं, तथापि इनका प्रयोग करना या रोकना उसकी इच्छा शक्ति के अधीन है। अतएव इनमें कुछ मानसिक व्यापार भी है। ये शारीरिक क्रियाएँ पुराने वंश से नूतन वंश में भी चली आती हैं। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक व्यक्ति पर कुछ शक्ति का प्रयोग करता है, जिससे उन्नति या अवनति होती है।

अब देखना चाहिए कि परस्पर के प्रभाव से भाषा का विकास किस प्रकार होता है। शारीरिक क्रिया के द्वारा ही एक मन का प्रभाव दूसरे मन पर पड़ता है। एक मन दूसरे मन पर एकाएक कोई क्रिया उत्पन्न नहीं कर सकता। यह एक मूल सत्य है कि जब दो मनुष्य एक मत के होते हैं तब उस मत का आरंभ एक ही व्यक्ति के मन में होता है। एक मन की क्रियाएँ दूसरे मन की क्रियाओं से भिन्न हैं, किंतु इनमें कुछ सादृश्य भी है। इस सादृश्य के अनुभव के आधार पर व्यक्तिगत मनस्तत्त्व से साधारण मनस्तत्त्व बना है। साधारण मनस्तत्त्व को पूरी तरह समझने के निमित्त व्यक्तिगत मनस्तत्त्व के ज्ञान की आवश्यकता है। हमारे पूर्वजों के मनोभावों के क्रम को समझने के लिए पूर्वकाल के व्यक्तियों की मानसिक क्रियाओं के क्रम का ज्ञान आवश्यक है। प्रत्येक मन में प्रारंभ से ही कुछ सहजात संस्कार रहते हैं। जब किसी बाह्य वस्तु की उत्तेजना उसके शरीर पर पड़ती है तब उसकी क्रिया से सदृश सहजात ज्ञान बदलकर एक नूतन प्रतिच्छाया (Image) में परिणत हो जाता है। ऐसी ऐसी प्रतिच्छायों के संयोग से हर एक मन में भावों (Ideas) की समष्टियाँ बनती हैं। यदि एक मन इन भाव-समष्टियों (Groups) को दूसरे मन में चलाना चाहता है तो उस दूसरे मनुष्य में ऐसी शारीरिक क्रियाएँ उत्पन्न करनी होंगी जिनसे उसके मन में वही सब

भाव-समष्टियाँ उत्पन्न हों। इस कार्य्य के निमित्त सबसे उत्कृष्ट साधन हैं भाषा की ध्वनियाँ। यद्यपि अंगभंगी, मुखमंडल के विकार, चित्र इत्यादि के द्वारा भी इस प्रकार का कुछ फल प्राप्त हो सकता है, तथापि उच्चरित भाषा सब से उत्तम उपाय है।

भाषा के द्वारा एक मन की भाव-समष्टियाँ दूसरे मन में चलित होती हैं। उसके द्वारा किसी के मन में भावों (Ideas) की सृष्टि नहीं हो सकती। भाषा के द्वारा अन्य व्यक्ति से प्राप्त भाव समष्टियाँ अपने सदृश पूर्व-जात संस्कारों से मिलकर मन में नूतन भाव निर्मित करती हैं।

एक मन के भाव दूसरे मन में ठीक ठीक प्रकाशित नहीं हो सकते। हम अपने मन के सिद्धांतों के अनुसार कल्पना कर लेते हैं कि दूसरे के मन की बातों को जान गये हैं। हम मान लेते हैं कि भौतिक जगत् के साथ दूसरों के मन का संबंध हमारे मन के संबंध के सदृश है, अर्थात् प्राकृतिक जगत् का प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ने से हमारे मन में जैसे जैसे भाव होते हैं, दूसरों के शरीर पर पड़ने से उनके मन में वैसे ही भाव उत्पन्न होते हैं। क्योंकि मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं तथा जीवन की अवस्थाओं में कुछ न कुछ सादृश्य होता ही है। यदि हम मान लें तो परस्पर के मनोभावों को समझना सहज हो जायगा। सादृश्य जितना अधिक होता है, समझ उतनी ही अधिक होती है।

विवर्तनवाद का मूल सूत्र परिवर्तन है। हरएक प्राकृतिक व्यापार में कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है। यद्यपि मनुष्य ही जीव के क्रमिक विकास की चरम सीमा है, तथापि परिवर्तन के द्वारा मनुष्य इस उच्चता को पहुंचता है। परिवर्तन होते ही जाते हैं। संभव है कि परिवर्तनों के कारण मनुष्य भविष्य में किसी दूसरी अवस्था को प्राप्त कर जाय।

मनुष्य में जैसे और-और व्यापारों का परिवर्तन हो रहा है, वैसे ही भाषा का भी परिवर्तन हो रहा है और होता रहेगा। विवर्तन के नियम से अवयवी अर्थात् जीव या उद्भिद् जिन अवस्थाओं से परिवेष्टित रहता है, अपने को उन अवस्थाओं के लिए उपयोगी बना लेता है। मनुष्य भी अपने को परिवेष्टनों के लिए उपयोगी बना लेता है। अतएव उसकी भाषा, जो उसकी स्थिति और उन्नति का प्रधान साहाय्य है, उसके प्रयोजन के लिए उपयोगी होती है। यद्यपि वह भाषा के नये व्यापारों के उद्भव को नहीं जान पाता है, तथापि भाषा में कुछ न कुछ नूतनता आ ही जाती है। परिवर्तनों के कारण हैं—शारीरिक यत्नों का विकार, मानसिक वृत्तियों की भिन्नता, परिवेष्टनों की भिन्नता और प्रयत्न के घटने की चेष्टा। मनुष्य के शारीरिक तथा मानसिक गठन में भिन्नता है। भाषा वाग्यंत्र से बोली जाती है और श्रवणेंद्रिय से सुनी जाती है। भाषा अनुकरण से बोली जाती है। श्रवणेंद्रिय की विभिन्नता के कारण दूसरों की ध्वनि ठीक ठीक

सुनाई नहीं देती, अतएव अनुकरण ठीक ठीक नहीं होता। वाग्यंत्र की विभिन्नता के कारण उच्चारण का अनुकरण ठीक ठीक नहीं होता। मानसिक गठन की विभिन्नता के कारण शब्दों तथा वाक्यों के अर्थ ठीक-ठीक समझ में नहीं आते। अतएव अर्थ का अनुसरण ठीक-ठीक नहीं आता।

भाषा का व्यवहार करने में लोग आराम चाहते हैं। अल्प आयास से मनोभावों के प्रकाशित करने की चेष्टा हमेशा बनी रहती है। इसलिए क्रमशः शब्द संक्षिप्त हो जाते हैं। किसी प्रकार के परिवर्तन के विना चिंता संपूर्णता से व्यक्त हो और उस व्यापार में कहनेवाले या सुननेवाले को सबसे कम समय वा मानसिक प्रयत्न लगे, यही भाषा की स्वाभाविक क्रिया है। भाषा को इस प्रकार गुण युक्त करने के लिए, पढ़े-लिखे लोगों के सिवा साधारण लोग सम्मिलित होकर या इच्छापूर्वक चेष्टा नहीं करते। भाषा की सीमा-बद्ध शक्ति के विरुद्ध असंख्य मनुष्यों के प्रयास से उसके ये गुण उत्पन्न हो रहे हैं। यही है भाषा की क्रियाशीलता (Linguistic Activity)। मनुष्य जिन भावों को दूसरे के निकट प्रकाशित करना चाहता है उनके प्रकाश के निमित्त वह भाषा का व्यवहार करता है। उन भावों के प्रकाश के निमित्त वह अनजान में कभी-कभी कुछ कुछ नूतन शब्द बनाता है। कभी-कभी वाक्यों में भी नूतन प्रकार से शब्दों को योजित करता है। जिन-जिन शब्दों या रूपों को वह तत्काल

व्यवहार करता है, यदि वे उसके मनोभावों को प्रकाशित करने के उपयोगी हों अर्थात् यदि दूसरे उनको समझ जांय, तो वे शब्द या रूप भाषा में स्थायी हो सकते हैं। यदि वे उपयोगी न हों तो विवर्तन के नियम से वे लुप्त हो जाते हैं।

थोड़ी देर के लिए शिष्ट अर्थात् साहित्यिक भाषाओं का ख्याल मन से दूर कीजिए और किसी साहित्यवर्जित असभ्य जाति की बोली की अवस्था को कल्पना में लाइए। देखियेगा कि उस बोली में व्याकरण का प्रयोग (ठेठ) का कोई बंधन नहीं है। उस जाति के लोग किसी प्रकार अपने मनोभावों को प्रकाशित करते हैं। हर एक व्यक्ति ध्वनियों को तथा रूपों को अपनी इच्छा के अनुसार परिवर्तित करता है।

जहाँ शिष्ट (Cultivated) भाषा प्रचलित है वहाँ भी इस विषय में हर एक व्यक्ति को स्वाधीनता प्राप्त है। बहुत लोग व्यवहार या प्रयोग को नहीं मानते और अपनी सुविधा के अनुसार शब्दों का तथा रूपों का प्रयोग करते हैं। यह भाषा की व्यक्तिगत कार्यकारिणी शक्ति (Individual linguistic activity) है। अतएव व्यवहार (Usage) की अपेक्षा भाषा की कार्यकारिणी शक्ति का प्रभाव अधिक है। व्यक्तिगत स्वाधीनता का प्रभाव बोलनेवाले के शारीरिक यंत्रों पर पड़ता है। यह प्रभाव सुननेवाले के शारीरिक यंत्रों पर भी पड़ता है। इस प्रकार के अपसरणों (Displacements) का प्रभाव पड़ते

पड़ते बहुत रूपों में भिन्नता आ जाती है। वरन् एक ही व्यक्ति से अपसरण का आरंभ होता है। कभी यह अपसरण स्थायी हो जाता है, कहीं विफल होता है।

अब देखना चाहिए कि भाषा के व्यवहारों या प्रयोगों (Linguistic usage) तथा उसकी व्यक्तिगत कार्य्यकारिणी शक्ति में क्या संबंध है। किसी भाषा के बोलनेवाले समाज का एक व्यक्ति उस भाषा के बोलनेवाले सब उपादानों का व्यवहार नहीं करता। कोई कुछ शब्दों का प्रयोग करता है, कोई दूसरों का। भाषा के भिन्नता के होने का यही प्रधान कारण है और इसी के व्यवहारों का क्रमिक अपसरण संभव होता है।

व्यक्तियों में स्वाभाविक कार्य्यकारिणी शक्ति के रहने पर भी वे भाषा की रीति के अनुसार बोलते हैं। परंतु दूसरों का प्रभाव उनपर पड़ता है। उनके बोलने में जब कुछ व्यतिक्रम पाये जाते हैं तभी मालूम होता है कि भाषा के अपसरण का प्रभाव उन पर पड़ा है। भाषा के व्यवहारों का परिवर्तन सब की सहायता के बिना नहीं हो सकता। परंतु प्रत्येक व्यक्ति के ऊपर दूसरों का प्रभाव पड़ने की संभावना रहती है। इस प्रभाव के पड़ने का मुख्य काल है बाल्यावस्था, जब बालक पहले-पहल भाषा सीखता है।

भाषा के व्यवहारों का परिवर्तन दो प्रकार से होता है— (१) नूतन रूप की सृष्टि और (२) पुरातन रूप का लोप कभी कभी

पुरातन रूप लुप्त हो जाता है और उसके स्थान में नूतन रूप प्रविष्ट होता है। ध्वनियों का परिवर्तन एक तीसरे प्रकार से होता है । व्यवहारों के परिवर्तनों का श्रेणीविभाग हम एक भिन्न प्रकार से भी कर सकते हैं—(१) कभी ध्वनि बदल जाती है और (२) कभी अर्थ बदल जाता है। अर्थात् कभी एक शब्द की ध्वनि बदल जाने पर भी अर्थ नहीं बदलता और कभी ध्वनि के न बदलने पर भी अर्थ बदल जाता है; कभी ध्वनि और अर्थ दोनों बदल जाते हैं। परंतु व्यवहारों के परिवर्तन में कार्य कारण का भाव नहीं है। हम यह नहीं कह सकते कि जब ध्वनि बदल गई है तब अर्थ भी बदलना चाहिये। जब भाषा की सृष्टि हुई थी तब एक ध्वनि का एक ही अर्थ निर्दिष्ट हुआ था। इसके बाद परिवर्तन का आरंभ हुआ और इसी समय के कुछ पश्चात् निर्दिष्ट अर्थ के अनुसार अर्थ-युक्त मूल ध्वनियों के उन अर्थों के आधार पर नूतन संयोग होने लगे। इस व्यापार में उपमान (Analogy) की शक्ति बहुत अधिक है। यद्यपि उपमान का प्रभाव ध्वनियों पर अल्प परिमाण से पड़ता है, तथापि जहाँ ध्वनि-विकार अर्थ की सहायता से होता है, वहाँ इसका प्रभाव अत्यंत अधिक है।

दमयंती का चंद्रोपालंभ

[श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी]

राजा नल की अद्भुत रूपराशि, गुणावलि, बल, प्रभुत्व, दानशीलत्व आदि सुन कर विदर्भ-देश के राजा भीम की कन्या दमयंती उस पर आसक्त हो गई। उसने अपने मन में यह प्रतिज्ञा की कि यदि मैं किसी के साथ विवाह करूँगी तो नल ही के साथ करूँगी। उधर एक हंस से दमयंती के रूप-लावण्य की प्रशंसा सुनकर नल भी उस पर मोहित हो गया। हंस ने दूतत्व किया और दमयंती के पास जाकर उसके नल-विषयक अनुराग को और भी बढ़ा दिया। उसने दमयंती से यह भी वादा किया कि उपाय भर मैं तुम दोनों का विवाह करा दूँगा।

हंस के चले जाने पर दमयंती दिन-रात नल का चिंतन करने लगी। वह बहुत कृश हो गई; खाना-पीना बहुत कुछ छूट गया; दुनिया की और सभी बातों से उसकी विरक्ति हो गई। वियोगविषयक कवि-समय-सिद्ध आपदाओं ने एकमात्र उसी का सहारा ले लिया। संसार में योग हो जाने पर, वियोग की घटना होती है। पर श्रीहर्ष की सृष्टि में नल से योग होने के पहले ही दमयंती पर वियोग-विपत्ति के बादल फट पड़े। उसे

उन्माद सा हो गया। वह विलाप करने और आकाश पाताल के कुलाबे मिलाने लगी। एक रात को जो उसे षोड़श कलाओं से पूर्ण, शिशिरवर्षी शीतकर दिखाई दिये तो उसका दुःख दूना हो गया। उसने चंद्रमा की बड़ी निंदा की। पर राहु के लिए कहा—"बड़ा बहादुर है; बड़ा परदुःख-कातर है; पापी चंद्रमा को खा जाता है। परोपकारव्रती हो तो राहु जैसा हो; वियोगविधुराओं को बचाने को बेचारा बड़ी चेष्टा करता है।" इस प्रकार कहते-सुनते जब उसका स्मर-ताप-नामक मर्ज बहुत बढ़ गया तब वह अपनी रोती हुई सखी से बोली—

सुन, मैं तुझसे गणित-शास्त्र की बात कहती हूँ। उसके आचार्यों ने यह तो लिख दिया कि देवताओं का युग ब्रह्मा के इतने दिनों के बराबर होता है और मनुष्यों का इतने के। पर ये कम-अक्ल आचार्य यह लिखना भूलही गये कि सु-योगियों का एक दिन वि-योगियों के कितने युगों के बराबर होता है। इन्हें यह भी तो लिख देना था कि जो विरही नहीं हैं उनका एक क्षण विरहीजनों के एक युग के बराबर होता है। मगर इन बूढ़ों में इतनी बुद्धि कहाँ? इसी से इनकी यह युगादि-गणना अधूरी ही रह गई।

सती अपने पिता दक्षप्रजापति के यज्ञ के अग्नि-कुंड में गिर-कर जल मरीं और फिर उन्होंने हिमालय के घर जन्म लिया। भोले-भाले लोग समझते हैं कि हिमालय की महिमा ही के

ख़्याल से सती हिमालय की सुता बनीं। पर यह बात सरासर गलत है। हिमालय पर देवताओं का वास है; वह रत्न खनियों का स्वामी है; उस पर सैंकड़ों दिव्य औषधियाँ उगती हैं; यह जानकर सती उसके घर नहीं पैदा हुई। असल बात यह है कि स्मराग्नि को अत्युग्र ज्वाला से संतप्त होने के कारण, विवश होकर, उन्हें हिमवान् के घर जन्म लेना पड़ा। उन्होंने सोचा कि मेरे शरीर का यह दाह हिम अर्थात् बर्फ के आकर हिमालय ही के आश्रय में शांत हो सकता है, और किसी तरह नहीं। इसी से उन्हें बर्फिस्तान ढूँढ़ना पड़ा। इसमें संदेह नहीं। एक बात मैं तुझसे और भी कहना चाहती हूँ। महादेवजी के मस्तक पर जो आग जल रही है वह, जानती है, क्या चीज है। वह उनका तीसरा नेत्र नहीं। वह तो सती ही के विरह की आग की धधकती हुई लपट है। समझो !

समय कुछ ऐसा आ गया है कि लोगों की अक्ल ही ठिकाने नहीं। वे समझते हैं कि लौकिक आग से जल जाने पर ही सबसे अधिक जलन होती है। लोगों की इस तरह की समझ पर तर्स आता है; क्योंकि उनकी इस समझ में कुछ भी सार नहीं। सबसे अधिक जलन विरहाग्नि से जलने पर ही उत्पन्न होती है। इसे ध्रुव सत्य समझ। यदि ऐसा न होता तो विधवा स्त्रियाँ, अपने पति के शव के साथ, अगले जन्म में उससे

मिलने के लिए, खुशी-खुशी जाती हो क्यों जल मरतीं ? चिता की लौकिक आग को तो वे कुछ समझती ही नहीं। उसके सहारे—उसमें कूद कर—वे अपनी विरहाग्नि की व्यथा से बचना चाहती हैं, क्योंकि वह व्यथा साधारण आग में जल जाने की व्यथा से बहुत ही अधिक असह्य होती है।

भले आदमी पापिष्ठों को शरण नहीं देते ; उन्हें अपने घर में नहीं रखते। वे पुण्यात्माओं ही के पक्षपाती होते हैं और उन्हीं को अपने आश्रय में रखते हैं। पर इस दुर्विनीत चंद्रमा की चाल बिलकुल ही उलटी है। सखी, जरा इसकी दुष्टता को तो देख। यह कुमुदों का सखा है ; इसकी अनेक किरणें कुमुदों को छूकर विमल, विशुद्ध, शीतल अतएव तापहारक हो जाती हैं। पर उन्हीं को यह निकाल बाहर करता है। और रखता किनको है ? विरहिणी वधुओं के वध-जनित पाप पंक से कलंकित किरणों को ! उन्हीं दुःसह पापिनी किरणों से यह मेरा स्पर्श करके मुझे पीड़ित करता है। भला इसके इस दुर्विनय—इस दौरात्म्य—का भी कुछ ठिकाना है !

सखी, जरा इस दुरात्मा चंद्र से यह तो पूछ कि तूने अबलाओं को जला कर खाक करने का गुरुमंत्र किस गुरु से सीखा है। जिस समय तू महासागर के भीतर डूबा पड़ा था उस समय क्या वहीं जलते हुए बड़वानल से सीखा था ? अथवा समुद्र से निकलने के बाद, महादेव के मस्तक पर पहुंचने पर,

क्या उनके गले में स्थित कालकूट से सीखा है ? इन्हीं दोनों में से किसी एक से उसे दूसरों को जलाने की शिक्षा जरूर मिली होगी। मेरा अनुमान तो यही कहता है।

अच्छा, सखी, यह तो बता कि अँधेरी रात में जो अधिक तारे देख पड़ते हैं सो क्यों ? और ये तारे हैं क्या चीज ? तू शायद इस भेद को न जानती हो। इसलिए मैं ही बताती हूँ। वह चंद्रमा बड़ा पापी है। इसने हजारों निरपराध नारियों की हत्या की है। और हत्यारे को सजा जरूर ही मिलती है। इस कारण धर्मराज इसको टाँग पकड़कर पहले तो इसे खूब चक्कर देता है, फिर कृष्णपक्ष की रात्रिरूपिणी शिला पर आकाश से पटक देता है और कहता है, ले अपने किये का फल भोग। इस तरह पछाड़े जाने पर इसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं—नष्ट होकर यह चूर-चूर हो जाता है। ये तारे इसी चांडाल चंद्रमा के शरीर के टूटे हुए टुकड़े या कण हैं। अन्यथा अँधेरी रात में ये तारा-नामक अनंत चमकीले पिंड और कहाँ से आ सकते हैं ?

सखी, तू जरा देर के लिए मेरी वकालत कर दे। इस दुर्विनीत शशलांछन से यह कह कि जन्म तो मेरा परम कुलीन रत्नाकर में हुआ है और निवास स्थान तुझे मिला है देवाधिदेव महादेव के मस्तक पर। ऐसा होने पर भी तू क्यों इतना जघन्य कर्म कर रहा है ? क्यों तू निर्बल नारियों की हत्या कर करके

पाप के घड़े भर रहा है ? यदि तुझे महत्ताशाली महासागर से उत्पन्न होने का कुछ भी ख्याल नहीं तो क्या तू इस बात को भी भूल गया कि रहता कितने उच्च और कितने पवित्र स्थान पर है ? बड़े कुल में जन्म लेकर और परमपवित्र स्थान में रह कर भी तूने कुटिलता न छोड़ी ! तुझ निर्लज्ज को शतवार धिक्कार !

रे कलंकी चंद्र ! तू तो चिरकाल तक उस समुद्र के भीतर था जिसे मंदराचल ने मथा था। अच्छा तो तू उस पर्वत की कठोर ठोकरों से वहीं क्यों न चूर्ण हो गया ? और बच ही गया था तो तुझ सहित समुद्र को पी जानेवाले अगस्त मुनि की जठराग्नि से उनके पेट के भीतर ही, तू क्यों न जीर्ण हो गया ? बात है कि अधर्मियों और पापियों की बड़ी उम्र होती है। वे सहज में नहीं मरते।

रे जड़ ! तूने शायद यह न सुन रक्खा होगा कि मरने पर प्राणियों का मन तुझमें ही लीन हो जाता है। ("मनश्चंद्रे निलीयते") श्रुति के इस विधान ही को ध्यान में रखकर क्या तू मुझे मार डालना और मेरे मन को ले लेना चाहता है ? यदि तेरा यही मतलब हो तो मुझे तेरी मूर्खता पर हँसी आती है। क्योंकि मेरे मृत मन के संबंध में महापंडित मन्मथ नें उस श्रुति की व्याख्या और ही तरह कर रक्खी है। उसने अपने भाष्य में लिख दिया है कि मरने पर दमयंती का मन राजा नल के मुखचंद्र में विलीन हो जायगा। वही उसका चंद्र है।

सो लीन होना तो दूर रहा, मेरा मन तुझ पापी के पास तक फटकनेवाला भी नहीं। मेरे मन के विषय में श्रुति का यह अर्थ अपवादात्मक है। समझा! तू जिस प्रकार के यश उपार्जन कर रहा है, कर। उसकी घोषणा भी तू नक्कारे की चोट संसार में कर। जिस जलनिधि-वंश में तेरा जन्म हुआ है उसे खूब उज्ज्वल कर। वधू-वध संबंधी पाप भी यथेच्छ बटोर। पर एक बात मत कर। मुझे मार भले ही डाल; कदर्थना मेरी न कर—व्यर्थ ही मुझे पीड़ा न पहुंचा। रात को सूर्य्य के न रहते तू कपट-सूर्य्य बनता है। अच्छा, बन। मुझे पीड़ित करले—मुझे जी भरकर जला ले। क्या रात ही बनी रहेगी? प्रातःकाल होगा ही नहीं? अवश्य होगा। तब मैं, इन्हीं आँखों से, प्रकृत सूर्य्य के द्वारा तेरी भानुता का झूठा घमंड चूर होते देखूँगी।

हरिणलांछन! लोग कहते हैं कि तू अमृत (अमृतमय) है और भूपपति (शंकर) के आश्रय में रहता है—उनका शिरोमणि है। इस दशा में रात के समय तुझे प्रज्वलित देख देखनेवालों के सिर विस्मय से जो हिल उठें तो ठीक ही है। क्योंकि जो अमृत है वही यदि अग्निमय हो जाय तो विस्मय होना ही चाहिए। मेरे लिए तो तू सचमुच ही बड़ा भयंकर है। यदि अमृत ही (बेमरा हुआ अर्थात् जीवित ही) प्राणी, भूपपति (पिशाचों के स्वामी) का आश्रय लेकर अपनी भूतता प्रकट करे—दूसरों के शरीर में प्रविष्ट होकर उनका सिर हिलावे—तो

उसका यह कर्म अवश्य ही अद्भुत समझा जायगा। इस से मैं तेरी यह विस्मयजनक चेष्टा देखकर डर रही हूँ।

अरी सखी! कानों में खुसे हुए इन तमाल-दलों को तू चंद्रमा के हिरन को क्यों नहीं खिला देती? खिला, खिला। इन्हें इसके आगे डालदे। ये नये-नये कोमल पत्ते खाकर वह हिरण यदि कुछ मोटा हो जाय और अपनी मुटाई से चंद्रमा के कुछ अंश को ढक ले तो जरा देर के लिए मुझे दम लेने की ता फुरसत मिले। खेद तो इस बात का है कि समय पर बुद्धि काम नहीं देती। अवसर निकल जाने पर वह स्फुरित होती है। अभी-अभी, उस दिन, अमावस्या हस्तगत होकर निकल गई। याद ही न आई। नहीं तो मैं उसे बलवत् पकड़ रखती। अच्छा, अब के आने दे। अब मैं उसे न छोड़ूंगी; पकड़ रक्खूँगी। ऐसा करने से इस चंद्रमा का पुनरागमन रुक जायगा। मैं इस पापी का मुँह नहीं देखना चाहती।

भला यह मेरा चकोर-पक्षी यदि अगस्त्य जी का शिष्य हो जाय और समुद्र पान करना सीख आवे तो कैसा। यदि इसे वह विद्या आ जाय और यह समुद्रपायी हो जाय तो चंद्रमा को पी जाना इसके लिए कौन बड़ी बात होगी। अभी तो यह उसकी तरफ टकटकी लगाकर केवल देखा करता है। फिर तो, उसकी किरणों को पी जाना, इसके लिए पानी के दो चार छींटे मुख में रख लेने के सदृश सहज काम होगा।

ओ सखी ! मेरी आली ! लोहे का एक बड़ा सा हथौड़ा तो ले आ ! लाई ? अच्छा, अब मेरा आइना आँगन में रख दे। फिर देखती रह। ज्योंही मेरे इस शत्रु शशांक का प्रतिबिंब आइने में देख पड़े त्योंही उस पर हथौड़े की एक चोट ऐसी मार की उसका काम वहीं तमाम हो जाय। मेरे दिन इतने खोटे हैं कि संसार में मेरी सहायता करनेवाला कोई भी नहीं। समुद्र ही को देख। बड़वानल जैसी भीषण आग को तो वह पेट में डाले बैठा है। पर चंद्रमा को उसने पेट के बाहर निकाल फेंका, जैसे वह भी उसके लिए कालकूट ही का भाई हो। अच्छा, यदि समुद्र को उसका रख छोड़ना सहन न हुआ तो महादेवजी ही उसे कालकूटवत् पी जाते। पर उस विषम विष को तो वे पी गये और इसे छोड़ दिया ! सो उन्होंने भी मुझ अभागिनी को सहायता न की। वे तो सर्वसमर्थ हैं। चाहते तो चंद्रमा को भी गले के भीतर रख लेना उनके लिए कोई बड़ी बात न थी।

एक बात बड़े आश्चर्य की है। समुद्र से निकले हुए काले रंग के कालकूट विष को अकेले महादेव जी ही ने पी लिया था। सो उन्हीं एक के पी लेने से वह समूल नष्ट हो गया। अब वह कहीं देखने को नहीं मिलता। उसका अस्तित्व ही लोप हो गया। पर वहीं उसी समुद्र से निकले हुए इस सफेद रंग के विष (चंद्रमा) को देख। बार-बार उसे पीकर देवता उसका क्षय कर देते हैं और बार-बार वह फिर फिर से उदय

हो आता है। उसका नाश ही नहीं होता। क्यों, यह अचंभे की बात है या नहीं ?

षोड़श कलाओं से पूर्ण पूरा चंद्रमा तो महापापी है; क्योंकि वह विरहियों के समुदाय का सदा ही वध किया करता है। वधिक पापात्मा न गिना जायगा तो कौन गिना जायगा ? पर देवताओं के द्वारा अमृत के पी लिये जाने पर क्षीण हुआ चंद्रमा कदापि पापी नहीं माना जा सकता। क्योंकि वधिक-कार्य्य पौर्णमासी ही चंद्रमा के द्वारा होता है, और किसी तिथि के क्षीण चंद्रमा द्वारा नहीं। क्यों, बात ठीक है न ? परंतु ग्रहज्ञानी ज्योतिषियों की मूर्खता को तो देख ! वे उलटी ही हाँकते हैं। वे कहते हैं, पूर्णचंद्र शुभग्रह है और क्षीण चंद्र पापग्रह ! कैसी दिल्लगी है।

क्यों सखी क्या तू जानती है कि कृष्णपक्ष का नाम बहुल क्यों है ? कारण यह है कि विरहीजन इस पक्ष का बहुत आदर करते हैं। यह पक्ष उनके बहुल सम्मान का पात्र है इसी से इसका यह नाम पड़ा। अच्छा, अमा (अर्थात् अमावस्या) को यह नाम क्यों मिला ? इसलिए कि उस रात को (चंद्रमा का सर्वथा अभाव होने के कारण) विरहियों ने अपनी अमा (अमित न मापी जाने योग्य) श्रद्धा का पात्र समझा है। बहुत आदर का पात्र होने के कारण कृष्णपक्ष को बहुल का और अमित आदर-सत्कार का पात्र होने के कारण अमावास्या

को क्षमा का खिताब विरही जनों ही का दिया हुआ है। क्यों मेरा यह कथन ठीक है न ?

आजतक राहु ने सैकड़ों, हजारों दफे पकड़ पकड़ कर चंद्रमा को अपने मुँह में रक्खा होगा। पर समझ में नहीं आता वह, हर दफे उसे छोड़ क्यों देता है। दही में सने हुए मीठे मीठे सत्तुओं के गोले को मुँह में रखकर भी भला कोई छोड़ सकता है। चंद्रमा ठीक ऐसे ही गोले के समान है। हाँ, एक बात हो सकती है। बहुत संभव है, राहु को अपने शत्रु चक्रपाणि के गोले गोले चक्र का धोखा हो जाता होगा। इससे चंद्रमा को लील कर भी वह छोड़ देता है। उसे डर लगता होगा कि कहीं ऐसा न हो जो यह फिर मेरा कंठ काट डाले ! दोनों का सादृश्य ही इसका कारण जान पड़ता है—चंद्रमा भी गोल और सफेद, सुदर्शन-चक्र भी गोल और सफेद। नहीं नहीं मेरा यह अनुमान ठीक नहीं। मुखके भीतर चंद्रमा को पाकर भी राहु उसे अपनी इच्छा से कदापि न छोड़ता होगा। यह चंद्रमा ही उसके गले की राह निकल भागता होगा। क्योंकि गले के नीचे का भाग तो राहु के है नहीं, वह तो केवल शीश-मात्र है। राहु के यदि पेट और आमाशय होता तो वह चंद्रमा को उनके भीतर पहुँचा कर उसे जरूर हजम कर जाता।

इन पुराने पौराणिकों के भोलेपन की हद नहीं। ये तत्त्व-दर्शी नहीं। किसी बात की तह तक पहुँचते ही नहीं। इनकी

बुद्धि सदा ऊपर ही ऊपर चक्कर काटा करती है ; भीतर धँसना जानती नहीं। इसी से यह लोग विष्णु को राहु का सिर काटने-वाला कहते हैं। यह और कुछ नहीं, इनके बुद्धिमांद्य का प्रखर परिणाम है। इन्हें चाहिये था कि ये भगवान् मधुसूदन को लाखों विरहिणी नारियों का सिर काट लेनेवाला कहते। क्योंकि अकेले एक राहु का कत्ल करके—उसके सिर को धड़ से जुदा करके—अनेकानेक अबलाओं का बध-साधन करने का द्वार मधुसूदन ही ने खोल रक्खा है। राहु का सिर वे यदि न काट डालते तो वह चंद्रमा को लीलकर कबका उसे पचा गया होता। परंतु शीर्षमात्र रह जाने से वह चंद्रमा को नहीं पचा सकता। वह उसे खा तो जाता है ; पर हर एक दफे वह उसके गले के नीचे से निकल भागता है और वियोगिनी वनिताओं को हत्या करने के व्यापार में फिर पूर्ववत् लग जाता है। सो इस सारी हत्या का पातक विष्णु ही के सिर पड़ता है। इसी से उन्हें राहु का सिर काटनेवाला न कहकर वियोग-विधुरा-वधुओं ही का सिर काटनेवाला कहना चाहिए। राहु के यदि जठराग्नि होती तो क्या आज तक यह चांडाल चंद्र बच भी जाता और क्या वियोगिनी नारियाँ इस तरह बे-मौत मारी जातीं।

पुराने जमाने की बात कहती हूँ। बात निराधार नहीं। वेद में भी उसका उल्लेख है। एक दफे महादेव जी ने मख रूपी मृग का सिर उड़ा दिया। यह बात देवताओं के सर्जन

जनरल अश्विनीकुमार को बरदाश्त न हुई। उन्होंने कहा - मैं ठहरा मन्मथ महाराज का मित्र और शिव जी ठहरे उनके शत्रु। अपने मित्र के शत्रु के काम में विघ्न डालना मित्र का परम कर्तव्य है, यह बात राजनीति तक में लिखी है। यही सोचकर अश्विनीकुमार ने उस मृग के सिर को धड़ से जोड़ कर फिर उसे जिला दिया। महादेव जी अपना सा मुँह लेकर रह गये। सखी, तलाश तो कर। क्या वैसा सर्जन अब भी कहीं मिल सकता है? मिले तो उसे बुला ला और राहु के सिर को उसके कबंध (केतु) के गले पर रखवा कर फिर उसे पूर्ववत करा दे।

यदि यह न हो सकता हो तो एक योजना और भी तो है। युद्ध में राजा नल जब अपने शत्रु का सिर काट देता है तब उसके निःशीश कबंध इस डर से ऊपर को उछलते—ऊपर को उड़ते—हैं कि वहाँ शायद मौत से बच जायँ। उसी समय राहु ही क्यों न दौड़ कर एक आध ऐसे कबंध के गले से चिपक जाय और ताजे बहते हुए रुधिर को चूने के प्लास्टर के सदृश, दर्ज में लगाकर उसे दृढ़ कर दे। यह भी न सही एक युक्ति और भी हो सकती है जरा नाम राक्षसी को तू जानती होगी। वही जरा जिसने मगध नरेश शिशुपाल के शरीर के दो टुकड़े को जोड़कर एक कर दिया था। जरा उसी जरा के पास चली जा और पूछ कि तू केतु के कबंध और राहु के सिर को

भी, शिशुपाल के शरीर के दो टुकड़ों को तरह क्यों नहीं जोड़ देती ? उससे कह—"जोड़ दे। तुझे बड़ा पुण्य होगा।"

अच्छा सखी, मेरी तरफ से राहु से यह तो पूछ कि तू चंद्रमा को निगल कर छोड़ क्यों देता है। क्या तू उसे द्विजराज (ब्राह्मण भी द्विजराज कहाता है और चंद्रमा भी) समझ कर जाने देता है ? क्या यह रियायत उसके द्विजराजत्व के कारण है ? यदि यही बात हो तो यह तेरी सरासर भूल है। यदि वह द्विजराज होता तो वारुणी (मदिरा भी वारुणी कहाती है और वरुण की दिशा—पश्चिम दिशा—भी) का सेवन करके, पतित होने पर भी, फिर क्यों दिवलोक (स्वर्ग तथा आकाश) में दिखाई देता ? वारुणीसेवी पतित द्विजराज को क्या कभी दिवलोक की भी प्राप्ति हो सकती है ? अतएव यह चंद्रमा कदापि द्विजराज नहीं ; कुछ और ही है। इसे निगल जाने में तुझे कुछ भी संकोच न करना चाहिए।

अथवा, राहुजी, मैं ही तुझसे एक बात पूछती हूँ। पर पहले तुझे एक पुराने आख्यान की याद दिला देना चाहती हूँ। एक दिन की बात है कि गरुड़जी के माँ-बाप के घर, उनके स्वाभाविक खाद्य की सामग्री कुछ भी न रह गई और माँ-बाप बच्चों को भूखा देख सकते नहीं। इस कारण गरुड़ के बाप ने कहा—बेटा गरुड़, जा म्लेछों ही का भोग लगा। बस, फिर क्या था जो आज्ञा, कहकर लगे गरुड़ म्लेछों को खाने।

अखबार

[श्री बालमुकुंद गुप्त]

हिंदी के अखबारों के विषय में कुछ विशेष आलोचना करने का विचार जी में आने से पहले ही उर्दू अखबारों की ओर दृष्टि जाती है क्योंकि उर्दू के अखबार हिंदी से पहले जारी हुए हैं और उन्हींने हिंदी अखबारों से पहले तरक्की के मैदान में कदम आगे बढ़ाया है। ऊपर से देखिये तो उर्दू और हिंदी में इस समय अनबन है। उर्दू के तरफदार हिंदी वालों को और हिंदी के पक्षवाले उर्दू वालों को कुछ कुछ टेढ़ी दृष्टि से देखते हैं; पर वास्तव में हिंदी उर्दू का बड़ा मेल है। यहाँ तक कि दोनों एक ही वस्तु कहलाने के योग्य हैं, केवल फारसी जामा पहनने से एक उर्दू कहलाती है और देवनागरी वस्त्र धारण करने से दूसरी हिंदी।

अँगरेजी सरकार ने अपना अमल भारत में जमाकर भारत की भाषा का ईरानी लिबास पसंद किया। उसी लिबास से भारत की भाषा अँगरेजी अदालतों में पहुंची। पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश की अदालती भाषा उर्दू ठहरी। अदालती भाषा होने से पहले ही उर्दू पर अँगरेजों की दृष्टि पड़ चुकी

थी। इस बात को आज सौ साल से अधिक हो गये। उस समय उर्दू में गद्य पुस्तक लिखने का ढँग जारी हो गया था। उर्दू गद्य की सब से पहली पुस्तक सं० १८५५ वि० में बनी। मीर अम्मन की प्रसिद्ध 'बागो बहार' नाम की पोथी सं० १८५९ वि० में बनी। उसके एक ही साल पीछे लल्लूलाल जी का प्रेम सागर बन गया। सरकारी दफ्तर सं० १८९८ वि० में उर्दू होने आरंभ हुए थे। सं० १८९३ में अखबारों को स्वाधीनता मिली।

सं० १८९० में उर्दू का पहला अखबार दिल्ली में जारी हुआ उसका नाम मालूम नहीं क्या था। लाहौर के गवर्नमेंट कालिज के अरबी भाषा के प्रोफेसर मौलवी मुहम्मद हुसेन आजाद दिल्ली निवासी ने अपनी "आबेहयात" नाम की पोथी में केवल इतना लिखा है कि उर्दू का पहला अखबार दिल्ली से मेरे पिता के क़लम से निकला। जान पड़ता है कि उक्त अखबार बहुत दिन तक नहीं चला इसी से प्रोफेसर आजाद ने उसका कुछ विशेष उल्लेख नहीं किया वह अखबार अब तक जारी रहता तो ६७ साल का होता। उसके बाद कोई और उर्दू अखबार निकला या नहीं कुछ पता नहीं।

उक्त पत्र में राजनीति, समाजनीति, आदि के लेख नहीं निकलते थे जैसे कि आज कल के समाचार पत्रों में निकलते हैं। उर्दू के विद्वान् और कवि लोगों के वादानुवाद और कविता

संबंधी बातें उसमें छपतीं थीं इतने पर भी बड़े बड़े अंगरेज हाकिम उसे अस्सी अस्सी और अड़तालिस अड़तालिस रुपये वार्षिक देकर खरीदते थे। इसके पीछे फुलिस्केप आकार के १६ पृष्ठ पर आगरे से "मुफीदे खलायक" नामका एक अखबार निकाला। वह कई वर्ष तक जारी रहा। उसमें खबरें निकलती थीं, भारत के इतिहास के दो पृष्ठ उसमें निकलते थे। इसके सिवा उर्दू के कवियों की गजलें और दूसरी चीजें उसमें छपती थीं। इससे यह अखबार भी ठीक ठीक अखबार कहने के योग्य न था।

सं० १९०७ में लाहौर से कोहेनूर" नाम का एक साप्ताहिक उर्दू पत्र निकला। यह उर्दू का असली पत्र कहलाने योग्य हुआ। दस साल हुए काशी निवासी बाबू राधाकृष्णदास ने हिंदी अखबारों के विषय में एक छोटी सी पुस्तक लिखी थी। उसमें उन्होंने दिखाया है कि दी में सब से पहले राजा शिवप्रसाद की सहायता से सं० १९०२ वि० में "बनारस-अखबार" निकला, उक्त पत्र लीथो में रद्दी-से कागज पर छपता था। एक महाराष्ट्रीय सज्जन गोविंद रघुनाथ थत्ते उसके संपादक थे। उसका मोटो यह था—

सुबनारस अखबार यह, शिवप्रसाद आधार,
बुधि विवेक जन निपुनको, चितहित बारंबार।
गिरजापति नगरी जहाँ, गंग अमल जलधार,
नेत शुभाशुभ मुकुरको, लखो विचार विचार॥

उसकी भाषा का भी एक नमूना उक्त पोथी में दिखाया गया है। वह इस प्रकार है—

"यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाव कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से वनता है उसका हाल कई दफा जाहिर हो चुका है, अब वह मकान एक आलोशान बनने का निशान तैयार हरचेहार तरफ से होगया बल्कि इसके नकशे का वयान पहिले मुंदर्ज है सो परमेश्वर के दया से साहब बहादुर ने बड़ी तंदेही मुस्तैदी से बहुत बेहतर और माकूल बनवाया है। देखकर लोग उस पाठशाला के किते के मकानों की खूबियाँ अकसर बयान करते हैं और उसके बनने के खर्च का तजवीज करते हैं कि जमा से जियादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के है सो सब दानाई साहब मम-दूह की है, खर्च से दूना लगावट में वह मालूम होता है।"

महाराज काशिराज के शिक्षा गुरु मुंशी शीतलसिंह साहब ने इसकी भाषा पर एक कता लिखकर दिल्लगी की थी। वह कता इस प्रकार है—

बनारस में इक जो बनारस गजट है।
इबारत सब उसकी अजब ऊट पट है॥
मुहर्रिर बिचारा तो है बासलीका।
वले क्या करै वह कि तहरीरे भट है॥

इस कते से यह पता नहीं लगता कि मुंशी साहब ने

"बनारस अखबार" को इबारत की किस लिये दिल्लगी की। उर्दू में दो एक शब्द संस्कृत के मिला देने के लिये की या विशुद्ध हिंदी न लिखने के लिये की अथवा संपादक के लिंग-ज्ञान पर की। हमारी समझ में संपादक बहुत दोषी नहीं। एक तो वह दक्षिणी थे दूसरे उस समय तक हिंदी का कोई ऐसा नमूना मौजूद न था जिसके अनुसार वह लिखते और उनकी भाषा उर्दू न कहलाकर हिंदीं कहलाने के योग्य होती।

यह ठीक है कि लल्लूलालजी के प्रेम-सागर की भाषा उनके लिए आदर्श हो सकती थी। पर लल्लूजी के परिश्रम की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। उनकी भाषा उनकी पोथी ही में रह गई आगे और पोथियाँ लिखकर किसी ने उनकी चलायी हुई भाषा की उन्नति नहीं की। लल्लूजी ने उर्दू वालों के साथ साथ ही प्रेम-सागर लिखकर हिंदी में गद्य लिखने की रीति चलायी। दुःख की बात है कि उर्दू की उन्नति तो होती रही पर हिंदी की कुछ नहीं हुई। लल्लूजी के प्रेम-सागर की भांति दस पांच और पोथियाँ हिंदी में लिखी जातीं तो "बनारस अखबार" को हिंदी लिखने का एक अच्छा मार्ग मिलता पर लल्लूजी के बाद कोई ६० साल तक उस ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। अंत को स्वर्गीय बाबू हरिश्चंद्र जी ने मरी हुई हिंदी को फिर से जिलाया।

जिस प्रकार गद्य लिखने की नींव आधुनिक हिंदी में उर्दू गद्य से दो एक साल ही पीछे पड़ी वैसे ही समाचार

पत्र की नींव भी दो चार साल बाद ही पड़ गई थो। पर दुःख यह है कि उसकी मजबूती की ओर किसो ने ध्यान नहीं दिया। लाहौर से उर्दू का "कोहेनूर" सं० १९०६ में निकला था उसी साल काशी से "सुधाकर" नामका हिंदी पत्र तारामोहन मित्र नामी एक बंगाली सज्जन के द्वारा प्रकाशित हुआ। कोहे-नूर बहुत दिन तक भली भांति चला और अब तक भी इसका अस्तित्व एकदम मिट नहीं गया है पर सुधाकर बहुत दिन नहीं रहा। हाँ, एक यादगार उस पत्र की काशी में बहुत भारी है जिसके द्वारा ज्योतिष और संस्कृत भाषा के सिवा हिंदी का बहुत कुछ उपकार हुआ और होता है। वह काशी के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी हैं। आपके चाचा जी के हाथ में ज्यों ही डाकिये ने सुधाकर पत्र का पहला नंबर लाकर दिया त्यों ही घर के भीतर से उनको भतीजा होने की खबर मिली। आपने भतीजे का नाम उस पत्र के नाम पर सुधाकर रखा। सुधाकर पत्र को कोई संख्या हमने नहीं देखी और न उसकी भाषा का ही कुछ नमूना हमें मिला यदि मिलता तो अच्छा होता क्योंकि यह जानने की बात है कि लल्लू जो से एकदम ४८ साल बाद जो हिंदी लिखी गई वह किस ढँग को थी।

अंत को स्वर्गीय बाबू हरिश्चंद्र जी के समय में हिंदी के भाग्य ने पलटा खाया। उन्होंने हिंदी को उत्तम बनाने की

चेष्टा की। कई एक अच्छी अच्छी पोथियाँ लिखकर उन्होंने सुंदर हिंदी का एक नमूना खड़ा किया। फिर और लगातार कई पुस्तकें उन्होंने लिखकर उसको पुष्ट किया। यद्यपि स्वर्गीय राजा लक्ष्मणसिंह महोदय ने सं० १९२० वि० में शकुंतला का हिंदी अनुवाद करके फिर एक अच्छी हिंदी का नमूना उपस्थित किया था पर उसका उस समय अधिक प्रभाव नहीं हुआ। कहा जा सकता है कि हिंदी नहीं थी बाबू हरिश्चन्द्र ने उसे पैदा किया। यदि हिंदी होती तो राजा शिवप्रसाद नागरी अक्षरों के बड़े प्रेमी होकर उर्दू में क्यों उलझे रहते ?

हिंदी का एक उत्तम रूप खड़ा होते ही बाबू हरिश्चन्द्र जी को अखबार का ध्यान आया। इसीसे सं० १९२५ में उन्होंने कविवचन-सुधा मासिक पत्र के आकार में निकाला। उसमें उस समय प्राचीन कवियों का काव्य प्रकाशित होता था। कवि देव का अष्टयाम, दीनदयालु-गिरि का अनुराग बाग, चंद्र का रासा, मलिक मुहम्मद की पद्मावत, कबीर की साखी, विहारी के दोहे, गिरिधरदास का नहुष-नाटक, गुलिस्तां का अनुवाद आदि पुस्तकें उसमें छपने लगीं। संसार में सदा पद्य ही से अच्छी भाषाओं के गद्य साहित्य का जन्म होता है उन्हें गद्य की सुध आगई उन्होंने देखा कि गद्य में भारत के सब प्रांत बढ़ रहे हैं केवल हिंदी वा ही बेसुध हैं। इतना विचार आते ही उन्होंने कविवचन-सुधा को पाक्षिक और फिर साप्ताहिक

किया, राजनीति, समाजनीति आदि पर लेख लिखने आरंभ किये। उसका सिद्धांत वाक्य यह था—

"खलगनन सों सज्जन दुःखी मति होंहि, हरिपद मति रहै।
अपधर्म छूट, स्वत्व निज भारत गहै, कर दुःख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारिनर सम होंहिं, जग आनंद लहै।
तजि ग्राम कविता, सुकविजन की अमृत बानी सब कहै॥

इस सिद्धांत में राजनीति, समाजनीति सब है। साथ साथ धर्म नीति भी है और उसमें बाबू हरिश्चन्द्र जी का जो कुछ मत था वह भी झलकता है। अर्थात् "हरिपद मति रहै" और "नारि नर सम होंहिं" का गंगा-मदार का जोड़ा भी साथ है।

सरकार ने भी कवि-वचन-सुधा की सौ कापियाँ खरीदी थीं। जब उक्त पत्र पाक्षिक होकर राजनीति सँबंधी और दूसरे लेख स्वाधीन भाव से लिखने लगा तो बड़ा आंदोलन मचा। यद्यपि हाकिमों में बाबू हरिश्चन्द्र की बड़ी प्रतिष्ठा थी, वह आनरेरी मजिस्ट्रेट किये गये थे। तथापि वह निडर होकर लिखते रहे, और सर्वसाधारण में उनके पत्र का आदर होने लगा। यद्यपि हिंदी भाषा के प्रेमी उस समय बहुत कम थे तो भी हरिश्चन्द्र के ललित लेखों ने लोगों के जी में ऐसी जगह कर ली थी कि कविवचन-सुधा के हर नंबर के लिए लोगों को टकटकी लगाये रहना पड़ता था। जो लोग राजनीतिक दृष्टि से उसे अपने विरुद्ध समझते थे वह भी प्रशंसा करते थे। दुःख की

बात है कि बहुत जल्द कुछ चुगुलखोर लोगों की दृष्टि उस पर पड़ी। उन्होंने कविवचन-सुधा के कई एक लेखों को राजद्रोह पूरित बताया। दिल्लगी की बातों को भी वह लोग निंदा-सूचक बताने लगे। मरसिया नाम का एक लेख उक्त पत्र में छपा था यार लोगों ने छोटे लाट सर विलियम म्योर को समझाया कि यह आप ही की खबर ली गई है। सरकारी सहायता बंद हो गयी। शिक्षाविभाग के डाइरेक्टर केम्पसन साहब ने बिगड़कर एक चिट्ठी लिखी। हरिश्चंद्र जी ने उत्तर देकर बहुत कुछ समझाया बुझाया। पर यहाँ यार लोगों ने जो रंग चढ़ा दिया था वह न उतरा यहाँ तक की बाबू हरिश्चंद्र की चलाई "हरिश्चंद्र चंद्रिका" और "बाल बोधिनी" नाम की दो मासिक पत्रिकाओं की सौ सौ कापियाँ प्रांतीय गवर्नमेंट लेती थी वह भी बंद की गयीं।

इन फिकरेबाज लोगों के दम में हाकिम कभी कभी किस प्रकार आ जाते हैं इसकी एक उन्हीं दिनों की दिल्लगी सुनने के योग्य है। हमारे वर्तमान महाराज सप्तम एडवर्ड उस समय प्रिंस आफ वेल्स थे और श्रीमान ने (भारत में) पदार्पण किया था। राज भक्ति की तरंगो से भारतवर्ष भारत महासागर की तरह तरंगित था कविवचन-सुधा ने श्रीमान के स्वागत में "पाद्यार्घ्य" नाम की एक कविता लिखी थी। सब लोग जानते हैं कि पाद्यार्घ्य कितनी शिष्टता का बर्ताव है और हिंदुओं की कैसी पुरानी चाल है। तथापि यार लोगों ने हाकिमों को समझाया था कि उसका

अर्थ जूतियों से पीटना भी है। यार लोगों के ऐसेही गुणों पर मोहित होकर गोस्वामी तुलसीदासजी अपने राम चरितमानस में इनकी बहुत कुछ बंदना कर गये हैं।

हाकिमों का ऐसा हलका वर्ताव देखकर निर्भीक हरिश्चंद्र ने आनरेरी मजिस्ट्रेटी का भार उसी दम अपनी गर्दन पर से उतार कर फेंक दिया और फिर हाकिमों से मिलने जुलने या उनकी दरबार-दारी करने का नाम न लिया। इसके बाद कवि वचन सुधा का नाम सर्वसाधारण में खूब बढ़ा। उसको बहुत से अच्छे लेखक मिले थे। उनमें से कई एक के नाम हमें मालूम हुए हैं। श्रीराधाचरण गोस्वामी, बाबू गदाधर सिंह, बाबू काशीनाथ खत्री, लाला श्रीनिवास दास, पं० बिहारीलाल चौबे, पं० सरयूप्रसाद, बाबू तोताराम वर्मा, मुंशी कमलाप्रसाद, पं० दामोदर शास्त्री, बाबू ऐश्वर्य्य नारायण सिंह, बाबा सुमेरसिंह, बाबा संतोष सिंह, बाबू गोकुल चंद्र, बाबू नबीनचंद्र राय। पत्र कुछ देर से निकलता था कारण यह कि उस समय समय पर पत्र निकालने का अभ्यास लोगों को नहीं पड़ा था तथापि बाबू हरिश्चंद्रजी ने समय पर निकालने के लिये उक्त पत्र पं० चिंतामणि राव धड़फले के हवाले कर दिया। पत्र समय पर निकलने लगा पर पीछे हरिश्चंद्रजी ने लिखना छोड़ दिया इससे पत्र का प्राण निकल गया। इसके अंतिम नंबर हमने भी देखे हैं। सारहीन से होते थे। कुछ दिन व्यास रामशंकर शर्म्मा भी इसके अवैतनिक

संपादक थे। सं० १९४० में इसके अधःपतन का समय आ गया। लार्ड रिपन का जमाना था। इलबर्टबिल का आंदोलन हुआ। राजा शिवप्रसाद सितारे-हिंद ने उसका विरोध करके स्वदेश वासियों की दृष्टि से अपने को गिराया था। कविवचन सुधा ने राजा शिवप्रसाद का साथ दिया इससे वह भी गिरा। यहाँ तक कि सं० १९४२ वि० में वह पत्र बंद हो गया। उसी साल बाबू हरिश्चंद्र का देहांत हुआ था। दूसरे हिंदी पत्रों ने बाबू साहब के शोक में महीनों तक काला बार्डर देकर लेख छापे, पर इस पत्र ने अपने जन्मदाता के लिये एक कालम भी काला न किया।

आख्यायिका-विवेचन

[श्री श्यामसुंदर दास, बी. ए.]

आज कल संसार की प्रायः सभी भाषाओं में कहानियों का प्रचार बहुत बढ़ता जाता है। कुछ लोग बड़े बड़े उपन्यासों का आकार और पृष्ठ-संख्या आदि देखकर घबरा जाते हैं और कुछ लोगों को, घबराहट न होने पर भी, इतना समय ही नहीं मिलता कि वह बड़े बड़े उपन्यास पढ़ सकें। ऐसे लोगों के सुभीते के लिए ही आख्यायिकाओं अथवा छोटी कहानियों का प्रचार हुआ है। ये कहानियाँ इतनी छोटी होती हैं कि किसी मासिक पत्र के एक ही अंक में, और और विषयों के साथ, कई कई आ जाती हैं। उपन्यासों और नाटकों की भांति इनसे भी अच्छी नैतिक शिक्षा मिल सकती है। यही कारण है कि आजकल ऐसी आख्यायिकाओं अथवा कहानियों का प्रचार बहुत बढ़ता जाता है। इनका इतना बढ़ता हुआ प्रचार, देखकर कुछ लोग तो यहाँ तक कहने लग गये हैं कि कुछ दिनों में उपन्यास रह ही न जायँगे और ये कहानियाँ ही उपन्यासों का स्थान लेलेंगी। पर हमारी समझ में यह आशंका निर्मूल ही है; क्योंकि उपन्यास का काम कभी आख्यायिकाओं से निकल ही नहीं सकता।

आख्यायिका के छोटे क्षेत्र में जीवन की उतनी अधिक विवेचना हो ही नहीं सकती, जितनी उपन्यास में होती है। उसमें पात्रों के चरित्र का उतना अच्छा विकास और चित्रण भी नहीं हो सकता, जिसके लिए उपन्यासों का इतना महत्व और आदर है। हिंदी में बहुत बड़े बड़े उपन्यासों का तो अभाव ही है, पर फिर भी हम कह सकते हैं कि परीक्षा गुरु अथवा प्रेमाश्रम आदि में जीवन के जितने चित्र खींचे गए हैं, उतने चित्र क्या कई आख्यायिकाओं में भी नहीं आ सकते। जिस प्रकार संसार में मनुष्यों के व्यवहारों और कार्यों आदि का निरीक्षण करने में हमें बहुत अधिक समय लगता है, उसी प्रकार पुस्तकों में भी उनसे परिचित होने के लिए अधिक समय लगना आवश्यक और अनिवार्य है। छोटी कहानियों में उनके पात्रों का और हमारा बहुत ही थोड़े समय के लिए साथ होता है और हमें उनके बहुत ही थोड़े कार्यों और व्यवहारों आदि का परिचय मिलता है। हमारे चित्त पर उनके अध्ययन से जो प्रभाव पड़ता है, वह भी अपेक्षाकृत बहुत ही अल्प और थोड़े महत्व का होता है। जब तक लोगों को सूक्ष्म से भी सूक्ष्म बात जानने की रुचि रहेगी, तब तक उपन्यासों का स्थान आख्यायिकाएँ नहीं ले सकेंगी। पर इस समय हम इस बात का विचार नहीं करने बैठे हैं कि उपन्यास और आख्यायिकाओं में से कौन श्रेष्ठ अथवा अधिक स्थायी है। हम तो उपन्यास की भांति आख्यायिका को भी गद्य-काव्य

का एक अंग मानते हैं और इसी दृष्टि से उसका विवेचन करते हैं।

सब से पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि आख्यायिका कहते किसे हैं आजकल जैसी कहानियों का प्रचार बढ़ रहा है, उसको देखकर हम कह सकते हैं कि आख्यायिका ऐसे गद्य कथानक को कहते हैं, जो घंटे दो घंटे के अंदर ही पढ़कर समाप्त किया जा सके, अर्थात् ऐसी कहानी जो थोड़े से अवकाश के समय एक ही बैठक में समाप्त हो सके। आख्यायिका कभी उपन्यास का संक्षिप्त रूप नहीं हो सकती, क्योंकि जो बातें किसी उपन्यास के सौ दो सौ पृष्ठों में आ सकती हैं, वे दस बीस पृष्ठ की किसी आख्यायिका में नहीं आ सकतीं। प्रायः सभी देशों में वृद्धा स्त्रियाँ संध्या समय घर में बैठकर बालकों को अनेक प्रकार क शिक्षाप्रद अथवा कुतूहलवर्धक कहानियाँ सुनाया करती हैं। आजकल की आख्यायिकाएँ भी एक प्रकार से उन्हीं कहानियों का संशोधन और परिमार्जित रूप हैं। आजकल भी मासिक पत्रों आदि में अनेक ऐसी कहानियाँ निकला करती हैं, जो पुराने ढंग की आख्यायिकाओं के बीच की होती हैं। आख्यायिकाओं के प्रचार के साथ ही साथ लोग यह समझने लगे हैं कि आख्यायिकाएँ लिखना भी एक कला है और उसके लिए भी किसी विशेष कौशल की आवश्यकता है। जिस प्रकार उपन्यासों और आख्यायिकाओं के विस्तार में अंतर

है, उसी प्रकार उनके उद्देश्य और वस्तु-विन्यास आदि में भी अंतर है।

आख्यायिका का विषय ऐसा होना चाहिए जिसका उसकी संकुचित सीमा के अंदर भली-भांति विकास और निर्वाह हो सके। इस विषय में पाठकों की रुचि का सब से अधिक ध्यान रखना चाहिये। कोई आख्यायिका समाप्त करने के उपरांत पढ़ने वाले की यह सम्मति होनी चाहिए कि यदि इस आख्यायिका का और अधिक विस्तार किया जाता, तो उससे कोई लाभ न होता। तात्पर्य यह कि किसी आख्यायिका से पाठकों के मन से यह भाव उत्पन्न हो जाना चाहिए कि जो कुछ कहा गया है, वह ठीक और पर्याप्त है; इसमें अनावश्यक बातें नहीं आने पाई हैं और इतने से ही आख्यायिका का उद्देश्य सिद्ध हो गया है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आख्यायिका में किसी एक ही अथवा क्षणिक घटना का ही उल्लेख हो। उसमें साहित्यिक रूप में जीवन के एक से अधिक अंगों के चित्र होने चाहिए और इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि आख्यायिका की सारी उत्तमता उसके कहने के ढँग पर निर्भर करती है। उसमें चरित्र अथवा अनुभव के किसी एक ही पक्ष का विचार अथवा प्रदर्शन हो सकता है; अथवा उतनी अधिक और व्यापक बातें भी बतलाई जा सकती हैं जितनी अनेक साधारण उपन्यासों में भी नहीं पाई जातीं। पर हाँ, यदि किसी छोटी सी आख्यायिका

में किसी व्यक्ति के सारे जीवन की सभी घटनाओं के भरने का उद्योग किया जायगा, तो वह पाठकों के लिए अरुचिकर होगा और पठित समाज में उसका आदर न हो सकेगा। इसी लिए हमने कहा है कि आख्यायिका की उत्तमता उसके विषय तथा प्रतिपादन-शैली पर ही निर्भर रहती है। दूसरी आवश्यक बात यह है कि उसके उद्देश्य, साधन और परिणाम आदि में सामंजस्य होना चाहिए। आख्यायिका का उद्देश्य अथवा आधार-भूत सिद्धांत एक ही होना चाहिए और आदि से अंत तक उसी उद्देश्य या सिद्धांत का ध्यान रखकर और उसीका युक्ति युक्त परिणाम उत्पन्न करने के विचार से आख्यायिका लिखी जानी चाहिए। उपन्यासों में इतनी अधिक बातें होती हैं कि उनसे कोई एक मुख्य सिद्धांत या परिणाम निकालना प्रायः कठिन हो जाता है। परंतु आख्यायिका के संबंध में यह बात नहीं होनी चाहिए। आख्यायिका में तो मुख्य विचार केवल एक ही, और वह भी बहुत ही प्रत्यक्ष या स्पष्ट होना चाहिए। बीच में कोई ऐसी बात नहीं आनी चाहिए जिससे पढ़ने वाले का ध्यान उस मुख्य विचार से हट कर किसी दूसरी ओर चला जाय। यदि किसी आख्यायिका का उद्देश्य और परिणाम दोनों बिल्कुल एक ही हों तो समझ लेना चाहिए कि उसके लेखक को अच्छी सफलता हुई है।

पर आख्यायिका लिखने में उद्देश्य और परिणाम की यह

एकता प्रतिपादन करना ही सब से कठिन काम है। इसी कठिनता का ध्यान रखते हुए कुछ विद्वानों ने यह सिद्धांत स्थिर किया है कि बड़े बड़े उपन्यासों की अपेक्षा छोटी छोटी आख्यायिकाएँ लिखना और भी अधिक कठिन काम है। उसमें अधिक कौशल की आवश्यकता है। एक विद्वान का मत है—"कुशल लेखक बहुत अच्छी तरह विचार करके यह निश्चित करता है कि पाठकों के हृदय पर मेरी रचना का अमुक प्रभाव पड़े; और तब उसी प्रभाव या परिणाम पर ध्यान रखकर वह ऐसी घटनाओं की रचना करता है, जो अभीष्ट परिणाम उत्पन्न करने में सबसे अधिक सहायक होती हैं। यदि उसके प्रारंभिक वाक्य से ही उस परिणाम का आरंभ न हो, तो समझना चाहिए कि पहले ही ग्रास में मक्षिकापात हो गया। सारी रचना में एक भी ऐसा शब्द न होना चाहिए जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पाठकों को उस अभीष्ट परिणाम अथवा प्रभाव की ओर अग्रसर न करता हो। इतने ध्यान, इतने कौशल और इतने साधनों से अंत में जो चित्र प्रस्तुत होता है, वही विचारशील और कलाकुशल प्रेक्षक को पूर्णरूप से संतुष्ट कर सकता है। बस यही कहानी का शुद्ध और स्वच्छ रूप है और यह रूप उपन्यास को प्राप्त नहीं हो सकता।" अच्छी आख्यायिकाएँ लिखने में इस परामर्श का बहुत कुछ उपयोग हो सकता है।

आख्यायिका में थोड़े से ही स्थान में कोई बड़ी बात

बतलानी पड़ती है, इसलिए उसकी रचना की सभी बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है। उसमें सभी अनावश्यक और निरर्थक बातें छोड़ दी जाती हैं; इस बात का ध्यान रखा जाता है कि किसी बात का आवश्यकता से कम या अधिक विस्तार न हो; और उसके सभी भिन्न भिन्न खंड या अंग सारी आख्यायिका के अनुरूप और अधीन हों। उपन्यासों में तो रचना संबंधी दोष कहीं कहीं छिप भी जाते हैं, पर आख्यायिका में वे बहुत ही स्पष्ट दिखाई देते हैं। आख्यायिका के संबंध में यही साधारण सूचनाएँ हैं, जिनका ध्यान रखना उपयोगी हो सकता है। नहीं तो उसकी रचना के कोई निश्चित नियम नहीं बतलाए जा सकते। नियम आवें कहां से? एक तो रचना-प्रणाली का संबंध विषय और उद्देश्य से है; और दूसरे किसी कला से संबंध रखनेवाली छोटी छोटी बातें बतलाना या नियम निर्धारित करना बहुत ही कठिन होता है; क्योंकि कला-संबंधी छोटी छोटी बातों का ठीक ठीक अनुमान तो उसका पूरा स्वरूप देखकर ही किया जा सकता है।

इसी प्रकार यह बतलाना भी कठिन है कि किस उद्देश्य या लक्ष्य पर ध्यान रखकर आख्यायिका लिखी जानी चाहिए। यदि उसकी रचना से संबंध रखनेवाली सभी बातों का ध्यान रखा जा सके, तो फिर प्रत्येक उद्देश्य और प्रत्येक साधन से आख्यायिका लिखी जा सकती है। उससे पाठकों को हँसाया भी जा

सकता है और रुलाया भी जा सकता है। उनको चकित भी किया जा सकता है और चक्कर में भी डाला जा सकता है। उनको मनोविज्ञान के भी कुछ सिद्धांत बतलाए जा सकते हैं और प्रेम का प्रभाव या परिणाम भी दिखलाया जा सकता है। प्राचीनकाल का दृश्य भी उनके सामने रखा जा सकता है और भविष्यत् का चित्र भी अंकित किया जा सकता है। कोई रोमांचकारिणी अथवा शिक्षाप्रद घटना भी चित्रित की जा सकती है और जीवन का कोई अंश भी चित्रित किया जा सकता है। अपना कोई अनुभव भी बतलाया जा सकता है और देश अथवा समाज की अवस्था भी बतलाई जा सकती है। तात्पर्य यह है कि सैकड़ों हजारों विषयों पर, बल्कि यों कहना चाहिए कि प्रायः सभी विषयों पर, आख्यायिकाएँ लिखी जा सकती हैं। यदि आप चाहें तो पहले अपने मन में आख्यायिका की कोई वस्तु निर्धारित करलें और तब उसके अनुरूप चरित्र आदि लाकर उसमें आरोपित करें। अथवा आप कोई चरित्र चुनकर उसके अनुरूप वस्तु-विन्यास भी कर सकते हैं। अथवा यदि आप के मन में कोई विचार या सिद्धांत उद्‌भूत हुआ हो, तो उसके अनुरूप वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण भी कर सकते हैं। आख्यायिका के संबंध में यही सब बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। उसकी शेष अन्यान्य बातें प्रायः उपन्यास की अन्यान्य बातों से ही मिलती जुलती हैं।

अनुप्रास का अन्वेषण

[श्री जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी]

वर्षों व्यतीत हुये, मेरे आदरणीय अध्यापक श्रीयुतललितकुमार बंद्योपाध्याय, विद्यारत्न, एम० ए० महाशय ने कलकत्ता कालेज स्कायर के युनिवर्सिटी इन्स्टीट्यूट में संध्या समय सभापति के स्थान पर सर गुरुदास बनर्जी को बिठा "अनुप्रासेर अट्टहास" शीर्षक बंगला प्रबंध का पाठ किया था, जिसमें उन्होंने बंगभाषा में व्यवहृत, प्रयुक्त और प्रचलित संस्कृत, अँग्रेजी, उर्दू, हिंदी और बँगला शब्द, महावरे और कहावतें उद्धृत कर अनुप्रास का अधिकार बंगला भाषा पर दिखाया था। प्रबंध के पढ़े जाने पर बँगला बँगवासी के संपादक बाबू बिहारीलाल सरकार बोले— बाँगलाई कोबीतार भाषा। कारोन एते ओनेक ओनुप्रास आछे। ओतो अनुप्रास आर कोनो भाषाते नाई। ओनुप्रास कोबीतार ऐकटी गून।" अर्थात् बँगला ही कविता की भाषा है; क्योंकि इसमें जितना अनुप्रास है उतना और किसी भाषा में नहीं। अनुप्रास कविता का एक गुण है।

मुझे बूढ़े बिहारी बाबू की यह बात बहुत बुरी लगी। क्योंकि भारत के भाल की बिंदी इस हिंदी को ही मैं कविता की भाषा

सकता है और रुलाया भी जा सकता है। उनको चकित भी किया जा सकता है और चक्कर में भी डाला जा सकता है। उनको मनोविज्ञान के भी कुछ सिद्धांत बतलाए जा सकते हैं और प्रेम का प्रभाव या परिणाम भी दिखलाया जा सकता है। प्राचीनकाल का दृश्य भी उनके सामने रखा जा सकता है और भविष्यत् का चित्र भी अंकित किया जा सकता है। कोई रोमांच-कारिणी अथवा शिक्षाप्रद घटना भी चित्रित की जा सकती है और जीवन का कोई अंश भी चित्रित किया जा सकता है। अपना कोई अनुभव भी बतलाया जा सकता है और देश अथवा समाज की अवस्था भी बतलाई जा सकती है। तात्पर्य यह है कि सैकड़ों हजारों विषयों पर, बल्कि यों कहना चाहिए कि प्रायः सभी विषयों पर, आख्यायिकाएँ लिखी जा सकती हैं। यदि आप चाहें तो पहले अपने मन में आख्यायिका की कोई वस्तु निर्धारित करलें और तब उसके अनुरूप चरित्र आदि लाकर उसमें आरोपित करें। अथवा आप कोई चरित्र चुनकर उसके अनुरूप वस्तु-विन्यास भी कर सकते हैं। अथवा यदि आप के मन में कोई विचार या सिद्धांत उद्‌भूत हुआ हो, तो उसके अनुरूप वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण भी कर सकते हैं। आख्यायिका के संबंध में यही सब बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। उसकी शेष अन्यान्य बातें प्रायः उपन्यास की अन्यान्य बातों से ही मिलती जुलती हैं।

अनुप्रास का अन्वेषण

[श्री जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी]

वर्षों व्यतीत हुये, मेरे आदरणीय अध्यापक श्रीयुत ललितकुमार बंद्योपाध्याय, विद्यारत्न, एम० ए० महाशय ने कलकत्ता कालेज स्क्वायर के युनिवर्सिटी इन्स्टीट्यूट में संध्या समय सभापति के स्थान पर सर गुरुदास बनर्जी को बिठा "अनुप्रासेर अट्टहास" शीर्षक बंगला प्रबंध का पाठ किया था, जिसमें उन्होंने बंगभाषा में व्यवहृत, प्रयुक्त और प्रचलित संस्कृत, अँग्रेजी, उर्दू, हिंदी और बँगला शब्द, महावरे और कहावतें उद्धृत कर अनुप्रास का अधिकार बंगला भाषा पर दिखाया था। प्रबंध के पढ़े जाने पर बँगला बँगवासी के संपादक बाबू बिहारीलाल सरकार बोले— बाँगलाई कोवीतार भाषा। कारोन एते ओनेक ओनुप्रास आछे। ओतो अनुप्रास आर कोनो भाषाते नाई। ओनुप्रास कोवीतार ऐकटी गून।" अर्थात् बँगला ही कविता की भाषा है; क्योंकि इसमें जितना अनुप्रास है उतना और किसी भाषा में नहीं। अनुप्रास कविता का एक गुण है।

मुझे बूढ़े बिहारी बाबू की यह बात बहुत बुरी लगी। क्योंकि भारत के भाल की बिंदी इस हिंदी को ही मैं कविता की भाषा

जानता क्या था; अब तक जानता और मानता हूँ। मैंने सोचा क्या हिंदी भाषा में अनुप्रास का अभाव है? यदि नहीं तो बँगला ही क्यों कविता की भाषा घोषित की जाय। यह सोच-विचार मैंने हिंदी में अनुप्रास का अन्वेषण आरंभ कर दिया। इस अनुसंधान में जो कुछ अपूर्व आविष्कार हुआ उसी को आज आप लोगों के आगे अर्पित करता हूँ।

संस्कृत साहित्य में अनुप्रास का अनुसंधान आवश्यक जानो; क्योंकि एक तो वह भारत की प्रायः सभी भाषाओं की जननी है उसपर सब की समान श्रद्धा है। दूसरे, उसके स्तोत्र तक जब अनुप्रास से अधिकृत हैं, तब काव्यों की कथा ही क्या है निदर्शन के लिए निम्नलिखित स्तव ही पर्य्याप्त होगा।

"गांगंवारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम्;
त्रिपुरारिशिरश्चारि पापहारि पुनातु माम्।"

"पापापहारि दुरितारितरंगधारि,
शैलप्रचारि गिरिराजगुहाविदारि;
झंकारकारि हरिपादरजोपहारि,
गांगं पुनातु सततं शुभकारिवारि।"

एक और सुनिए—

"नमस्तेऽस्तु गंगे त्वदंगप्रसंगात्,
भुजंगास्तुरंगा कुरंगाः सवंगा;

अनंगारि रंगाः ससंगाः शिवांगा,
भुजंगाधिपांगी कृतांगा भवंति ।"

हिंदी साहित्य में भी मैंन पद्य की ओर प्रस्थान नहीं किया ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि वहाँ अनुप्रास का अड्डा अद्भुत रूप से जमा हुआ है । यथा –

चंपक चमेलिन सों चमनि चमत्कार,
चमू चंचरीक के चितौत चोरे चित हैं ;
चाँदी को चबूतरा चहूँधा चमचम करे,
चंदन सों गिरधरदास चरचित है ;
चारु चाँद तारे को चँदोवा चारु चाँदनी सो,
चामीकर चोवन पै चंचला चकित है ;
चुन्निन की चौकी चढ़ी चंद्रमुखी चूड़ामनि,
चाहन सों चैत करें चैन के चरित हैं ॥

अन्य भाषा-भाषी अपनी-अपनी भाषा के दो चार शब्दों में अनुप्रास आता अवलोकन कर आनंदित और गद्‌गद् हो जाते हैं। पर यहाँ तो चारों चरणों में चकार की भरमार है। अफसोस है तो भी हम हिंदी की हिमायत न कर उर्दू-अंग्रेजी का ही आल्हा अलापते हैं। खैर।

इसलिये मैंने पद्य परित्याग कर गद्य की ओर ही गमन किया ; और वहाँ राजा-रईस, राजा-रंक, राव-उमराव, सेठ-साहूकार, कवि-कोविद, ध्यानी-ज्ञानी, योगी-यती, साधु-संन्यासी

से लेकर नौकर-चाकर, तेली-तमोली, बनिया-बक्काल, कहार-कलवार, मेहतर-चमार, कोरी-किसान और लुच्चे-लफंगे तक की बात-चीत, गप-शप, बात-बिचार, रहन-सहन, खान-पान, रफतार-गुफतार, चाल-चलन, चाल-ढाल, मेल-मुलाकात, रंग-रूप, आकृति-प्रकृति, जान-पहिचान, हेल-मेल, प्रेम-प्रीति, आव-भाव, जात-पाँत, रीति-रस्म, रस्म-रवाज, रीति-नीति, पहिनावे-ओढ़ावे, डील-डौल, ठाट-बाट, बोल-चाल, संग-साथ, संगत-सोहबत में अनुप्रास का अमल दखल पाया। मैंने अपनी ओर से न कुछ घटाया-बढ़ाया, न काटा-छाँटा और न चुस्त-दुरुस्त ही किया। शब्दों को जिस सूरत शकल में पाया वहाँ से वैसे ही उठाकर ठिकाने से मौका महल देख रख भर दिया है।

अन्वेषण के पहिले अनुप्रास का नाम धाम आकार प्रकार, रंग ढंग और नामोनिशान जान लेना जरूरी है। अंग्रेजी के Alliteration and Assonance उर्दू फारसी का काफिया रदीफ और संस्कृत हिंदी का अनुप्रास नाम में दो होने पर भी काम में एकही हैं।

स्वर के बिना व्यंजन-वर्णों के साम्य को अनुप्रास कहते हैं। याने वाक्य और वाक्यांश में बारंबार एकही प्रकार के व्यंजन वर्णों के आने को अनुप्रास कहते हैं। इस के अनेक रूपरूपांतर हैं, पर प्रधान पाँचही हैं। जैसे—

(१) छेकानुप्रास—भोजन बिना भजन।

(२) वृत्यनुप्रास—हिंदी साहित्य-संमेलन के सभापति का सुंदर सिंहासन।

(३) श्रुत्यनुप्रास—खेल-कूद, जंगल-झाड़ी।

(४) अंत्यानुप्रास—अत्र तत्र सर्वत्र है, भारतमित्र सुपत्र।

(५) लाटानुप्रास—शिक्षिता अबला अबला नहीं है।

अच्छा अब असली हाल सुनिए। अनुसंधान के अर्थ कमर कसते ही मुझे अपने इर्दगिर्द, अगलबगल, अड़ोसपड़ोस, टोलेमुहल्ले, घरबाहर, भीतरबाहर, आसपास, इधरउधर, नाते-रिश्ते, बंधुबाँधव, भाईबंद, भाईभतीजे, कुटुमकबीला, पुत्रकलत्र, बालबच्चे, लड़केबाले, जोरूजांते, चूल्हेचक्की, घरबार, अपनेबेगाने, मामाभानजे, भाईबिरादरी, खानदान, परिवार तमाम अनुप्रास हो अनुप्रास नजर आने लगा। इसका अनुमान नहीं, प्रत्यक्ष प्रमाण लीजिए। मेरा नाम जगन्नाथ प्रसाद, स्टेशन जमुई, ससुर जहांगीरपुर निवासी, जौनमाने जसवंतरायजी के जेठे बेटे जयंती प्रसाद जी, मामा जयकृष्ण लालजी और लड़का यदुनंदन है। मेरा आदि निवास मथुरा, मध्य मिरजापुर और वर्तमान मलयपुर जिला मुंगेर, प्रवास मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट (कलकत्ता), अल्लमई मिश्र हिस्सेदार मिर्जामलजी और चाचा मुरारीलाल तथा मथुराप्रसाद महोदय हैं। उपाधि चौबे-चतुर्वेदी, काम चपड़े का और उमर चालीस की है। गोत्र सौश्रव है। किस्साकोता, परिजन, पुरजन, अरिजन, स्वजन, सबकी मोह ममता और

माया-मोह छोड़, मुँह मोड़ सजधज और बनठन कर अनुप्रास की तलाश में निकल पड़ा।

वाणिज्य व्यापार

चूँकि अपना धर्म-कर्म वाणिज्य-व्यापार से चलता है, नौकरी चाकरी से कुछ लेना देना नहीं; बस जवानी-दीवानी के फंदे में फंस मनमानी घरजानी करता, पहले बंगालबैंक की बड़ा बाजार-ब्राँच में जा पहुँचा, तो क्या देखता हूँ कि रोकड़-जाकड़ हिसाब-किताब, खाते-पत्तर, उचंत-खाते, खर्चखाते, खैरातखाते, खुदराखर्च-खाते, बट्टेखाते, व्याजबट्टे, लेनदेन, नकराई-सकराई, मिती के भुगतान, खोखे; पैठ-परपैठ, देने-पावने, नाम-जमा, लेवाल-देवाल, लेवाल-बेचवाल, साझे-सराकत; सौदा-सुल्फ, तार-वार, लेने-बेचने, खरीद-बिक्री, खरीद-फरोख्त, बेचने-खोचने, मोललेने, क्रय-विक्रय, मालटाल, मालजाल, मालमता, बिल्टी-बीजक, वाकी-वकाए, मत्थे-पोते, जमीन-जायदाद, धनदौलत, धन-धान्य, अन्नधन, सौ के सवाए, नफे-मुनाफे, नफेनुकसान, आमदनी रफ्तानी, आगत-निर्गत, रूँकधोक, दर-दाम, मोलतौल, वोहनी वट्टे, बाजार दर, देनदार, दूकानदार, सराफ, बजाज, मुनीमगुमास्ते और बसने के ब्राह्मणों की कौन कहे, दिवाले निकालने, टाट उलटने, बम बोलने, आफीशियल असायनी और इनसालवेंट अदालत तक में अनुप्रास का आसन जमा है। केवल यही नहीं—दल्लाल, नमूने, कामकाज, कारबार, कार व्योहार, कामधंधे, खुशी के

सौदे, कलकारखाने, कल के कुली, जहाज की जेटी और बट्टे चट्टे में भी आप आ बैठे हैं।

बाजार बढ़े, चढ़े या घटे, गिरे या उठे, तेज हो या मंदा, सुस्त या समान रहे, मारवाड़ी महाजन हो चाहे बंगाली व्यापारी, व्योहरे बनिये हों चाहे ब्राह्मण, सभी अनुप्रास के चक्कर में हैं। उतमर्ण-अधमर्ण में, स्वदेशी शिल्प में, श्रमशिल्प में, शिल्प सभा में, श्रमजीवी समवाय में, कृषि शिल्प प्रदर्शिनी में, वैश्यवृत्ति में, व्यवसायात्मिका बुद्धि में, विज्ञान वाणिज्य में, अर्थशास्त्र में, कलाकौशल में, व्यापारे वसते लक्ष्मी, या "लक्ष्मीर्वसति वाणिज्ये" इस मूलमंत्र में भी अनुप्रास आ गया है। अमानत में खयानत करो, धन गवन करो, बचत बचाकर 'नौ नगद न तेरह उधार' करो, कच्चे चिट्ठे को पक्का समझो या सफेद को स्याह करो, बंक से बंधक का बंदोवस्त कर व्याज बढ़ाओ, जूट-पाट का फाटका या सट्टा करो, पर अनुप्रास का अदर्शन न होगा।

साहित्य

अर्जन उपार्जन के उपरांत साहित्य सेवा है। संस्कृत साहित्य को कौन कहे। राष्ट्र-भाषा हिंदी के साहित्य संसार में भी अनुप्रास की आँधी आ गई है। दिव्य-दृष्टि से नहीं, चर्मचक्षुओं से ही चश्मा लगा आप देखेंगे कि कविकुल-कुमुद कलाधर, काव्य-कानन-केसरी और कविता-कुंज-कोकिल कालिदास भी काव्य कल्पना में अनुप्रास का आवाहन करते हैं। कहीं कहीं

तो कष्ट कल्पना से काव्य का कलेवर कलुषित हो जाता है। यह कपोल कल्पना नहीं, कवि-कोविदों का कहना है। खैर, वंसीबट, यमुना निकट, मोर मुकुट, पीतपट, कालिंदोकूल, राधा-माधव, ब्रजवनिता, ललिता, विधुवदनी, कुँवर-कन्हैया नंदयशोदा, वसुदेवदेवकी, वृंदाबन, गिरिगोवर्द्धन, ग्वाल-वाल, गो-गोप-गोपी, ताल-तमाल, रसाल-साल, लवंग-लता, विपिन-विहारी, नंद-नंदन, विरह व्यथा, वियोग व्यथा, संयोग-वियोग, मधुरमिलन, मदन महोत्सव और मलयानिल ही नहीं, झिल्लियों को झनकार, चारि बादर, घन गर्जन-वर्षण, दामिनी की दमक, चपला की चमक, बादर की गरज, शीतल गंध मंद मारुत, कुसुम कलिका, मदनमंजरी, बीर बहूटी, चोआ चंदन, अतर अरगजा, तेल-फुलेल मेंहदी महावर, सोलह श्रृंगार, मृगमद, राहुरद, कुमुद कमल कल्हार, स्थलकमल, सरसिज, सरोरुह, पद्मपत्र, एलालता, लज्जावती-लता, छुईमुई को पत्ती, कोयल की कुहुक, कूजित-कुंजकुटीर, शशि, बसंती-वायु, मलय-मारुत, मधु मास, युवक युवती, नव-यौवन, यामनो-यापन, रमणीरत्न, सुखसागर, रससागर, दुःखदावानल, अंधअनुराग, मुग्धा-मध्या, प्रोषित-पतिका, वासकसज्जा, अधवा-विधवा-सधवा, चित्तचोर, मन मोहक, मदन मोहन, दिलदारयार, प्राणनाथ, प्राणप्रिय, मीनपयोधर, प्रेम-पात्र, प्रेम-पताका, प्राणदान, सुखस्वप्न, आलिंगन-चुंबन, चूमाचाटी, पादपद्म, कृत्रिम-कोप, भ्रूभंग,

भृकुटी-भंगी, मानमर्दन, और मान-भंजन भी अनुप्रास के अधीन हैं।

कंबुग्रीव, बाहुवल्ली, करकमल, पद्मपलाश, लोचन, निविड़नितंब, पदपल्लव, गजगमन, हरिण नयन, केसरि कटि, गोल कपोल, गुलाबी गाल, कोमल कर, दाड़िमदसन, और साफ-सुथरी गोरी नारी की मधुर मुसकान में जैसे अनुप्रास का वास है वैसे ही कालीकलूटी, मैलीकुचैली, नाटी-मोटी, खोटी-छोटी, कर्कशा, कलहकारिणी कुलटा के बिखरे बालों में भी है। तात्पर्य्य यह कि प्रेम में नेम नहीं। तकल्लुफ में सरासर तकलीफ है। प्रेम का पंथ ही पृथक है। निराला होने पर भी आला है। इसमें सुख दुःख और जीवन-मरण दोनों हैं। हँसा सो फँसा। इश्क हकीमी हो या मजाजी उसमें मार और प्यार दोनों हैं। भगत के बस में हैं भगवान। जो दिल जले हैं, उनका दिल भला कहीं क्यों लगने लगा। जो सदा सर्वदा मक्खियाँ मारा करते हैं, उनसे भला क्या होना जाना है। जिसका स्नेह सच्चा है, वह लाख आपत विपत होते भी सहीसलामत, मंजिले मकसूद को पहुंच जाता है। उसके लिए विघ्न बाधा, बिपद बाधा कुछ है ही नहीं। यहाँ तक तो अनुप्रास आया। अब आगे राम मालिक है।

व्याकरण के वर्तमान-भूत-भविष्यत् में, संज्ञा-सर्वनाम में,

विशेष्य-विशेषण में, संधि-समास में कर्ता-क्रिया-कारक में, कर्ता-कर्म-कारण में, अपादान-संप्रदान-अधिकरण में, उद्देश्य-विधेय में, कर्तरि-कर्मणि प्रयोग में, तत्पुरुष कर्मधारय, बहुब्रीहि, द्वंद्व-द्विगु समासों, विभक्त-प्रत्यय में, प्रकृति-प्रत्यय में आसक्ति आकांक्षा में, सार्थक-निरर्थक शब्दों में, जाति-व्यक्ति और भाव-वाचक संज्ञाओं में जब अनुप्रास का निवास है तब सामयिक और साहित्य की सामग्री कागज कलम, कलम-पेंसिल, रूलपेंसिल हेंडल होल्डर, स्याहीसोख, निबपिन, चाकूकैंची, एडीटर-कंपोजीटर, प्रिंटर-पबलिशर, संपादक-मुद्रक-प्रकाशक, प्राप्त-पत्र, प्रेषित-पत्र, संपादकीय स्तंभ, साहित्य-समाचार, तार-समाचार, तड़ित-समाचार, तार-तरंग, विविध समाचार, मुफस्सिल समाचार, साहित्य समालोचना, क्रोड़पत्र, वेल्युपेबल पार्सल और प्रेस सेंसर में भी अवश्य ही है।

भारतमित्र, अभ्युदय, प्रेमपुष्प, बंगवासी, प्रताप, जयाजी-प्रताप, सज्जन कीर्ति सुधाकर, वीर भारत, पाटलिपुत्र, बिहारबंधु, मिथिला मिहिर, सत्य समाचार, सत्यसनातन, चित्रमय जगत्, सद्धर्म प्रचारक, अवधवासी, आनंद, वेंकटेश्वर समाचार, दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रों में, और सरस्वती, मर्यादा, नवनीति, जासूस, नवजीवन, सारदाविनोद, स्त्रीदर्पण, मनोरंजन, वैष्णव-सर्वस्व, सुधानिधि, चतुर्वेदी चंद्रिका, महामंडल मेगजीन, ब्रह्मचारी, ललिता नामक मासिक पत्रों में अनुप्रास का अंश है।

लेखक में बाबू बालमुकुंद वर्मा, गंगाप्रसाद गुप्त, लाला भगवानदीन, ब्रजराज बहादुर बी० ए०, नरेंद्रनारायण, भास्कर आलेराव, हरिहर सुरूप शास्त्री, तीर्थत्रय सकलनारायण शर्मा, अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, वासुदेव, बाबूराव विष्णु पराड़कर, यशोदानंदन अखौरी, रामनारायण चतुर्वेदी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, पद्मसिंह शर्मा, विद्यावारिधि (ज्वालाप्रसाद मिश्र) नंदकुमारदेव शर्मा, गिरजाकुमार घोष, चंद्रधर गुलेरी, कृष्णकांत, मन्नन द्विवेदी गजपुरी, गोपालराम गहमरी, रामजीलाल, लज्जा-राम, रुद्रदत्त, गौरीशंकर हीराचंद, राधाचरण, द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, रामावतार, रामरणविजयसिंह, अयोध्यासिंह उपाध्याय, देवकीनंदन, रायदेवीप्रसाद पूर्ण, भारतेंदु हरिश्चंद्र, अंबिकादत्त व्यास, माधव मिश्र, श्रीनिवासदास, सदानंद मिश्र, तोताराम, लल्लूलाल, और लेखिकाओं में यशोदादेवी, राजमन्नीदेवी, कृष्णकला, कृष्णकुमारी, तोरन देवी, 'ललो' रामेश्वरी नेहरु और हेमंत कुमारी चौधरानी अनुप्रास के अंतर्गत ही मिलीं।

द्विवेदी कृत 'कालिदास की निरंकुशता' मनसाराम लिखित निरंकुशता-निदर्शन, आत्माराम रचित अनस्थिरता मौजीराम का विचारवैचित्र्य, शिवशंभु शर्मा के चिट्ठे, मस्तराम के मंतव्य, मनसुखा का मनसूबा, गिटपिटानंद गोलमालकारी, कलकत्ते की साहित्यसंबर्धिनी सभा, प्रयाग या फिरोजाबाद का भारती-भवन, पाठकजी का पद्मकोट, सिंहजी का 'सतसई संहार, व्यासजी

का बिहारी विहार, प्रतापनारायणजी का सांगीतशाकुंतल, श्याम + शुक + गणेश बिहारी मिश्रों का बंधुविनोद, या कवि कीर्तन, तथा नवरत्न, मैथिलीशरण की भारत भारती, अयोध्यासिंह जी का प्रिय-प्रवास, तथा ठेठहिंदी का ठाठ, अयोध्या नरेश का रस-कुसुमाकर, जोधपुरी मुरारिदानजी का यशवंत यशोभूषण, और मेरा संसार-चक्र, तथा विचित्र विचरण, भी अनुप्रास आमेज़ हैं।

हिंदी साहित्य संमेलन के सभापति होने के सबब ही माननीय मदनमोहन मालवीय, गोविंद नारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी, महात्मा मुंशीराम, और पंडित श्रीधर पाठक तथा महामंत्री पुरुषोत्तम दास टंडन को भी अनुप्रास ने अछूता न छोड़ा।

धर्म्म

साहित्य-सेवा के बाद धर्म कर्म है। धर्मांध धर्म धुरंधर, धर्म-धुरीण, धर्मावतार और सनातनधर्मावलम्बो बनकर पोथी-पुराण, श्रुति-स्मृति, शास्त्र-पुराण का पठन पाठन और श्रवण, मनन, निदिध्यासन करो, प्रतिमापूजन-प्रतिपादन, मूर्ति-पूजा-मंडन, और श्राद्ध-तर्पण का शंका-समाधान करो, पाखंडी पंडों, पुरोहितों और पंडितों के पैर. पूजो, लकोर के फकीर बनो, संयम-नियम, तीर्थ-व्रत-योग-भोग, जप-तप, याग-यज्ञ, ज्ञान-ध्यान, स्नान-ध्यान-पूजा-पाठ कर कर्म कांडो कहाओ। हव्य-कव्य-गव्य, पंचामृतपंचगव्य, धूपदीप, चंदन-पुष्प, कुम-कुम, गंगाजल, तुलसीदल और ताम्बूल पूँगीफल से परमात्मा का पूजन-अर्चन

करो, चाहे आर्यसमाजी हो बालविवाह, विधवा-विवाह, बहु-विवाह, बेमेलविवाह का विरोध कर समाज संस्कार, समाज-सुधार के साथ नियोगनिरूपण करो या खंडन-मंडन, शास्त्रार्थ, संध्या वंदन होम हवन कर मांस पार्टी, घास पार्टी पैदा करो पर अनुप्रास सदा सर्वत्र अनुसरण करता है। केवल यही नहीं, प्रवृत्ति, निवृत्ति, स्वर्ग नरक, पाप पुण्य, अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष, मुक्ति-मोक्ष, लोक-परलोक, यम-यातना, साकार निराकार, निर्गुण सगुण, काशी करवट, दानपुण्य, जन्ममरण, जन्ममृत्यु, विषय वासना, ब्रह्मविद्या, मुक्तिमार्ग, ज्ञान नेत्र, आगम निगम, वेदउपनिषद्, वेद-वेदांग-वेदांत, ब्रह्मवैवर्त, श्रीमद्भगवतगीता, शास्त्र-सिद्धि-विधि-निषेध और वेदविहित कर्मों में भी अनुप्रास का आदर देखा।

आचार विचार, नेम-धर्म, नित्यनैमित्तिक क्रिया-कर्म, ध्यान धारणा, स्तवस्तोत्र, यंत्र-मंत्र-तंत्र, ऋद्धि-सिद्धि, शुभ लाभ, भजन-पूजन, भगवच्चिंतन, प्रायश्चित-पुरश्चरण, वृद्धि श्राद्ध, आद्य-श्राद्ध, सपिंडनश्राद्ध, पितृप्रेतकृत्य, पिंडप्रदान, कपालक्रिया, जलांजलि, तिलांजलि, पितृपक्ष, और गोग्रास में भी अनुप्रास का अनुभव किया।

दरस परश मज्जन पान करें, सत्संग या साधु समागम से दुस्पारावार संसार को अनित्य समझें, सांसारिक सुखसंभोग में सारा समय समर्पित कर दें, मारवाड़ी सहायक समिति

संस्थापित करें या श्री विशुद्धानंद सरस्वती विद्यालय बनवावें, पर अनुप्रास से अलग नहीं हो सकते। झुनझुन् वाले का लछमन झूला, रामचंद गोइनका का जनाना घाट, सोदपुर की पिंजर पोल, राय बहादुर बदरीदास मुनीम का माणिकतल्ले वाला मंदिर, मिरजापुर को गोवर्धन गोशाला, सहारनपूर का (मेरो) सारदा सदन, काँगड़ो का गुरुकुल, हिंदू विश्वविद्यालय, बाबा ज्ञानानंद का शरीर और निगमागम मंडलो, व्याख्यान-वाचस्पति महामंत्री दीनदयालु जी का श्री भारतधर्म-महामंडल, प्रयाग की सेवा समिति और थूकापंथो भी अनुप्रास के आश्रित ही हैं।

हिंदुओं के परब्रह्म परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु, शिव, वरुण, कुबेर, जयविजय नामक दोनों द्वारपाल, सूर्यचंद्र, ग्रहनक्षत्र, कालो, कमला, शीतला, सरस्वतो, महामाया, इंद्राणी, शर्वाणी, रुद्राणी, कल्याणी, देव-दानव, देवी-देवताओं, नरोकिन्नरी अप्सराओं, गंधर्वा और भूत-प्रेत-पिशाचों हो में नहीं, मुसल्मानों के पाक परवरदिगार अकबर, हजरत मुहम्मद, पैगंबर, पाँच-पीर, हसन-हुसेन, मक्के-मदीने, कलाम अल्लाह, जामामसजिद, मोती मसजिद, मीना मसजिद, रोजा-रमजान, अलहमदुलिल्लाह, और शीया-सुन्नी में, ईसाइयों के ईसामसीह, वाइविल, मरियम, देवदूत और प्रभात प्रार्थना में, बौद्धों के बुद्धदेव, शक्यसिंह, पद्मपाणि, प्रज्ञापारमिता, बौद्धविहार, और दलाई-लामा में, सिक्खों

के नानक और गुरुगोविंद में और जैनियों के पार्श्वनाथ पहाड़ में आर्यसमाजियों के स्वामी दयानंद सरस्वती और सत्यार्थप्रकाश में, ब्रह्मसमाजियों के राजा राममोहन राय तथा वैष्णवों के वल्लभाचार्य में भी अनुप्रास है।

कुंभ के मेले पर ओ० आर० आर० से हरिद्वार जा हर की पैरी के पुल के पास जगज्जननी जान्हवी के शीतल जल से पाप, ताप, त्रयताप का प्रक्षालन करो, त्रिवेणी तट पर माघ मेले में मुंडन करा मकर नहाओ, सूर्यग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में या मलमास में राजगिरि जा स्नान दान करो, संक्रांति के समय सागर संगम या गंगा सागर का सफर करो, कार्तिक की पूर्णिमा पर हरिहर क्षेत्र जाकर गंडकी में गोते लगाओ, बनारस के विश्वनाथ जी और वैजनाथ जी में बम बम बोलो या काशी के कंकर शिवशंकर समान जानो, कोट कांगड़ा की नयना देवी के दर्शन करो या—'मन चंगा तो कठौती में गंगा' के अनुसार शिक्षा ले घर पर ही अतिथि अभ्यागतों, साधु संन्यासियों की सेवा कर मेवा पाओ, चाहे व्यसनी व्यभिचारी विहारी, विलासी बाबू बन कर विषय वासना के वशीभूत हो बाग बगीचे की बारहदरी में चुपचाप संगी साथियों के साथ मिलजुल आमोदप्रमोद, ऐशोइसरत, ऐशोनिशात करो, शराब, कबाब और मांस मछलियाँ उड़ाओ, होटलों में बोतलों के बिलों का टोटल दे बंक पर चेक काटो, भाट-भिखारियों, दीनदुखियों

और लूले लँगड़ों को कानी कौड़ी न दे, महफिल में मुजरा सुन, रंडी भँड़ुवे और भाँड़ भगतिनों को इनाम एकराम दे सब स्वाहा कर डालो या शिखासूत्र परित्याग परमहंस बनो या वल्लभ कुलियों को "तन, मन, धन अर्पण कर" समर्पण ले लो, पर अनुप्रास सदा साथ रहेगा।

धर्म की गहनगति मन के अनुकूल न हो, तो समाज संशोधन की ही ठहरे। पहले समाज-शरीर का स्वरूप स्थिर करो—बिवाह बंधन, जातपांत, छुआ-छूत, चूल्हे-चौके, पंच-परमेश्वर और खानपान का ध्यान छोड़ एकामेक गड्डम गड्ड हो, पुरुषोत्तमपुरी की प्रथा प्रचलित करो, दादू दयाल और सुंदरदास की सच्ची सलाह सुनकर वाममार्ग से मुँह मोड़ो, पतित जातियों को शुद्ध कर पटैल-विल के प्रचारक हो, नया नाता जोड़ो, स्त्रियों को शिक्षा और स्वतंत्रता दे उनके शुभचिंतक बनो, या उन्हें निपट निरक्षर और निपढ़ बना पर्दे के पीछे रख कूपमंडूक बनाओ, पर अनुप्रास पास ही रहेगा।

यहाँ तक तो अनुप्रास के अन्वेषण में कृतकार्य हुआ। आगे कौन कह सकता है कि क्या होगा। पर मैं पीछे पैर देने वाला नहीं। धैर्य्य धारण कर दिन दूने रात चौगुने साहस और उत्साह से हाट बाट, घर घाट, नदी-नाले, जंगल झाड़ी, बन पर्वत की कौन कहे देश-विदेश और सात समुद्र पार जाकर द्वीप-द्वीपांतरों में दिन दोपहर, दिनदहाड़े, रातबिरात बेरोकटोक विचरण करूँगा,

और मौका मिलते ही अनुप्रास की खुशखबरी शुभ समाचार सब को सुनाऊँगा, अभी तो गृहस्थाश्रम ग्रहण कर दार-परिग्रह ही हुआ है। उसके सुख संभोग, सुखशांति, संतान-सुख, राग-रंग और दुःख दारिद्र, शोक-संताप, कलह-क्लेश, हर्ष-विषाद तथा जंजाल का जिक्र ही नहीं आया है। गृहस्थ को सभी भोग भोगने पड़ते हैं। यह देह का दंड है लीलामय की लीला अपरंपार है, वह तिल को ताड़ और पर्वत को राई कर सकता है। भूतनाथ भगवान भवानीपति अलबेले भोलेनाथ का ही भारी भरोसा है कि वह भली भाँति भला करेंगे।

मजहबी पागलपन

[श्री प्रेमचंद्र]

(१)

दुनिया में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जो किसी के नौकर न होते हुए भी सबके नौकर होते हैं; जिन्हें अपना कुछ काम न होते हुए भी सर उठाने की फुरसत नहीं मिलती। जामिद इसी श्रेणी के लोगों में था। बिल्कुल बे-फिकर, न किसी से दोस्ती, न किसी से दुश्मनी। जो जरा हँसकर बोला, उसका बेदाम का गुलाम हो गया। बेकाम का काम करने में उसे मजा आता था। गाँव में कोई बीमार पड़े, वह मरीज की सेवा-सुश्रुषा के लिए हाजिर है। कहिए तो आधीरात को हकीम के घर चला जाय, किसी जड़ी बूटी की तलाश में कोसों की धूल छान आवे। मुमकिन न था कि वह किसी गरीब पर जुल्म होते देखे और चुप रह जाय। फिर चाहे कोई उसे मार ही डाले सहायता करने से न चूकता था। ऐसी सैकड़ों बाधाएँ उसके सामने आचुकी थीं।

कांस्टेबिलों से आए दिन छेड़-छाड़ होती ही रहती थी। इसलिए लोग उसे दीवाना समझते थे। और बात भी यही

थी। जो आदमी किसी पर भारी बोझ देखकर, उसे छीनकर अपने सर पर ले ले, किसी की आग बुझाने के लिए कोसों दौड़ा चला जाय, उसे समझदार कौन कहेगा ? मतलब यह कि उसकी ज़ात से लोगों को चाहे कितना ही फायदा पहुँचे, उसका अपना कोई फायदा न होता था। यहाँ तक कि वह रोटियों के लिए भी दूसरों का मोहताज था। दीवाना तो वह था, और उसका गम दूसरे खाते थे।

(२)

आखिर लोगों ने जब बहुत धिक्कारा कि क्यों अपनी जिंदगी बरबाद कर रहे हो ? तुम दूसरों के लिए मरते हो, कोई तुम्हें भी पूछनेवाला है ? अगर एक दिन बीमार पड़ जाओ तो कोई चुल्लूभर पानी न देगा; जब तक दूसरों की खिदमत बजा लाते हो लोग खैरात समझ कर खाने को दे देते हैं; जिस दिन आ पड़ेगी कोई सीधे मुँह बात भी नहीं करेगा, तब जामिद की आँखें खुलीं। बरतन भाँड़ा कुछ था ही नहीं। एक दिन उठा और एक तरफ की राह ली। दो दिन के बाद शहर में जा पहुँचा। शहर बहुत बड़ा था। महल आसमान से बातें करने वाले, सड़कें चौड़ी और साफ। बाजार गुलजार, मसजिदों और मंदिरों की तादाद अगर मकानों से ज्यादा न थी तो कम भी नहीं। देहात में न कोई मसजिद थी, न कोई मंदिर। मुसलमान लोग एक चबूतरे पर नमाज पढ़ लेते थे। हिंदू एक

पेड़ के नीचे पानी चढ़ा दिया करते थे। शहर में धर्म का यह राज्य देख कर जामिद को बहुत खुशी हुई। उसकी नजर में मजहब का जितना मूल्य था, उतना और किसी सांसारिक वस्तु का नहीं। वह सोचने लगा, यह लोग ईमान के पक्के और कितने सत्यवादी हैं! इनमें कितनी सहन-शीलता, कितनी दया, कितनी हमदर्दी होगी! तभी तो खुदा ने इन्हें इतना माना है। वह हर आने-जाने वाले को विश्वास की नजर से देखता और उसके सामने सर झुकाता था! यहाँ के सभी लोग उसे देवता के मानिंद जान पड़ते थे। घूमते घूमते शाम हो गई। वह थक-कर एक मंदिर के चबूतरे पर जा बैठा। मंदिर बहुत बड़ा था। ऊपर सुनहला कलश चमक रहा था। जगमोहन पर संगमरमर के चौक जड़े हुए थे। मगर सहन में जगह जगह गोबर और कूड़ा पड़ा था। जामिद को गंदगी से घृणा थी। मंदिर की यह हालत देखकर उससे रहा न गया। इधर-उधर निगाह दौड़ाई कि कहीं झाड़ू मिल जाय तो साफ कर दूँ। मगर झाड़ू कहीं नजर न आयी। लाचार होकर उसने अपने दामन से चबूतरे को साफ करना शुरू कर दिया। जरा देर में भक्तों का जमाव होने लगा। उन्होंने जामिद को चबूतरा साफ करते देखा, तो आपस में बातें करने लगे :—

'है तो मुसलमान।'

'मेहतर होगा।'

'नहीं, मेहतर अपने दामन से सफाई नहीं करता। कोई पागल मालुम होता है।'

'उधर का जासूस न हो।'

'नहीं, चेहरे से तो बड़ा गरीब मालूम होता है।'

'हसन निजामी का कोई मुरीद होगा।'

'अजी, गोबर के लालच से सफाई कर रहा है। कोई भठियारा होगा। (जामिद से) गोबर मत ले जाना रे, समझा? कहाँ रहता है?'

परदेसी मुसाफिर हूँ, साहब! मुझे गोबर लेकर क्या करना है? ठाकुर जी का मंदिर देखा तो आकर बैठ गया। कूड़ा पड़ा हुआ था, मैंने सोचा, धर्मात्मा लोग आते होंगे। सफाई करने लगा।'

'तुम तो मुसलमान हो न?'

'ठाकुरजी तो सब के ठाकुरजी हैं, क्या हिंदू क्या मुसलमान।'

'तुम ठाकुर जी को मानते हो?'

'ठाकुर जी को कौन न मानेगा, साहब? जिसने पैदा किया उसे न मानूंगा?'

भक्तों में सलाह होने लगी।

'दिहाती है।'

'फाँस लेना चाहिए। जाने न पावे।'

(३)

जामिद फाँस लिया गया। उसका आदर सत्कार होने

लगा। एक हवादार मकान रहने को मिल गया। दोनों वक्त लजीज और बढ़िया चीजें खाने को मिलने लगीं। दो चार आदमी उसे हरदम घेरे रहने लगे। जामिद को भजन खूब याद थे। आवाज भी अच्छी थी। वह रोज मंदिर में जाकर कीर्तन करता। भक्ति के साथ आवाज भी सुरीली हो तो फिर क्या पूछना है ? लोगों पर उसके कीर्तन का बड़ा असर पड़ता। कितने ही लोग दर्शनों के लालच से ही मंदिर में आने लगे। सब को यकीन हो गया कि भगवान् ने यह शिकार चुनकर भेजा है। एक दिन मंदिर में बहुत से आदमी जमा हुए। सहन में फर्श बिछा दिया गया। जामिद का सर मूड़ दिया गया। जामिद के हाथ से मिठाई बटवाई गई। वह अपने मेहरबानों की सहृदयता और धार्मिक विश्वास का भी कायल हो गया। यह लोग कितने शरीफ हैं ! मुझ जैसे परदेशी की कितनी खातिर। इसी को सच्चा धर्म कहते हैं।

जामिद को जिंदगी में कभी इतनी इज्जत नसीब न हुई थी। यहाँ वही सैलानी नौजवान जिसे लोग दीवाना कहते थे, भक्तों का सरदार बना हुआ था। सैकड़ों आदमी महज उसके दर्शनों को आते थे। उसकी योग्यता और विद्वता की कितनी ही कहानियाँ फैल गईं। अखबारों में यह खबर निकली कि एक बड़े आलिम मौलवी साहब की शुद्धि हुई है। सीधा-सादा जामिद इस इज्जत का भेद न समझता था। ऐसे धर्मात्मा, भले

लोगों के लिए वह क्या कुछ न करता? वह रोजाना पूजा करता, भजन गाता। उसके लिए यह कोई नई बात न थी। अपने गांव में भी वह बराबर गीता की कथा किया करता था, भजन-कीर्तन किया करता था। फर्क यही था कि देहात में उसकी कदर न थी। यहाँ सब उसके भक्त थे। एक दिन जामिद कई आदमियों के साथ बैठा हुआ कोई पुराण पढ़ रहा था। देखता क्या है कि सामने सड़क पर एक मजबूत नवयुवक माथे पर तिलक लगाये, जनेऊ पहने, एक कमजोर आदमी को मार रहा है। बुड्ढा रोता गिड़गिड़ाता है और कदमों पर गिर गिर कर कहता है कि महाराज, मेरा कसूर माफ करो। मगर तिलकधारी नवयुवक को उस पर जरा भी दया नहीं आती। जामिद का खून जोश में आया। ऐसा नज्जारा देखकर वह खामोश न बैठ सकता था। फौरन कूदकर बाहर निकला और नौजवान के सामने आकर बोला, इस बुड्ढे को क्यों मारते हो, भाई? तुम्हें इस पर जरा भी तरस नहीं आता?

नवयुवक—मैं मारते मारते इसकी हड्डियाँ तोड़ दूँगा।

जामिद—आखिर उसने क्या कसूर किया? कुछ मालूम तो हो।

नवयुवक—इसकी मुर्गी हमारे घर में घुस गई थी और सारा घर गंदा कर आई।

जामिद—तो क्या इसने मुर्गी को सिखा दिया था कि तुम्हारा घर गंदा कर आवे?

बुड्ढा—खुदावंद मैं तो इसे बराबर टोकरे में रखता हूँ। आज गफलत हो गई। कहता हूँ, महाराज, मेरा अपराध क्षमा करो। मगर नहीं मानते हैं। हुजूर, मारते-मारते अधमरा कर दिया।

अभी नहीं मारा है, अब मारूँगा। खोदकर गाड़ दूँगा।

जामिद—खोदकर गाड़ दोगे, भाई साहब तो तुम भी यों ही न खड़े रहोगे। समझ गये? अगर फिर हाथ उठाया तो अच्छा न होगा।

जवान को अपनी ताकत का नशा था। उसने फिर बुड्ढे को चाँटा लगाया। मगर चाँटा पड़ने के पहले ही जामिद ने उसकी गर्दन पकड़ ली। दोनों में कसम-कसा होने लगी। जामिद भी अच्छा जवान था। नौजवान को एक ही बार में चारो खाने चित्त गिरा दिया। उसका गिरना था कि भक्तों का गिरोह, जो अब तक मंदिर में बैठा तमाशा देख रहा था, लपट पड़ा। जामिद पर चारों ओर से चाँटे पड़ने लगे। जामिद की समझ में न आता था कि लोग मुझे क्यों मार रहे हैं! कोई कुछ भी नहीं पूछता। तिलकधारी जवान को कोई कुछ नहीं कहता। बस जो आता है मुझ ही पर हाथ साफ करता है। आखिर वह बेदम होकर गिर पड़ा। सब लोगों में बातें होने लगीं।

'दगा दे गया।'

'ऐसी तैसी तेरी जात की। इन म्लेच्छों से भलाई की आशा न रखनी चाहिए। कौवा कौवों के साथ मिलेगा। कमीना जब करेगा, कमीनापन। उसे कोई पूछता न था। मंदिर में झाड़ू लगा रहा था। बदन पर कपड़े का तार भी न था। हमने उसकी इतनी इज्जत की। हैवान से इंसान बना दिया। फिर भी अपना न हुआ।'

'इनके मजहब की तो बुनियाद ही यही है।'

जामिद रात भर सड़क के किनारे पड़ा दर्द से कराहता रहा। उसे मार खाने का दुःख न था। ऐसी तकलीफें वह कितनी ही बार सह चुका था। उसे दुःख और आश्चर्य केवल इस बात का था कि इन लोगों ने क्यों एक दिन मेरी इज्जत की और क्यों आज बिना वजह अपमान किया। मैं तो वही हूँ। मैंने कोई कसूर भी नहीं किया। मैंने तो वही किया जो ऐसी हालत में सब को करना चाहिए। फिर इन लोगों ने मुझ पर क्यों इतना जुल्म किया? देवता क्यों राक्षस बन गए? वह रात भर इसी उलझन में पड़ा रहा। सुबह उठकर एक तरफ को राह ली।

(४)

जामिद अभी थोड़ी दूर ही गया था कि वही बुड्ढा उसे मिला। उसे देखते ही वह बोला, कसम खुदा की कल तुमने मेरी जान बचा दी। सुना जालिमों ने तुम्हें बुरी तरह से पीटा। मैं तो मौका पाते ही निकल भागा। अब तक तुम कहाँ थे?

यहाँ लोग रात से तुमसे मिलने के लिए बेकरार हो रहे हैं। काजी साहब रात ही तुम्हारी तलाश में निकले थे। मगर तुम न मिले। कल हम दोनों अकेले पड़ गये थे। दुश्मनों ने हमें पीट लिया। नमाज का वक्त था। यहाँ सब लोग मसजिद में थे। अगर जरा भी खबर हो जाती तो हजार लट्ठबाज पहुँच जाते। तब आटे दाल का भाव मालूम होता। कसम खुदा की, आज से मैंने तीन नई मुर्गियाँ पाली हैं। देखूं पंडित जी महाराज अब क्या करते हैं? कसम खुदा की, काजी साहब ने कहा है कि अगर लौंडा जरा भी आँखें दिखावे तो तुम मुझसे आकर कहना। या तो बच्चा घर छोड़ कर भागेंगे या हड्डी पसली तोड़कर रख दी जावेगी।

जामिद को लिए हुए वह बुड्ढा काजी जोरावर खां के यहाँ पहुंचा।

काजी साहब वजू कर रहे थे। जामिद को देखते ही दौड़कर गले लगा लिया। और बोले 'वल्लाह, तुम्हें आँखें ढूँढ रही थीं। तुमने अकेले इतने काफिरों के दाँत खट्टे कर दिए। क्यों न हो, मोमिन का खून है! काफिरों की हकीकत क्या? सुना, सबके सब तुम्हारी शुद्धि करने जा रहे थे। मगर तुमने उनके सारे मंसूबे पलट दिए। इस्लाम को ऐसे ही खादिमों (सेवकों) की जरूरत है। तुम जैसे दीनदारों से इस्लाम का नाम रोशन है। गलती यही हुई कि तुमने एक महीने भर तक सब्र

नहीं किया। शादी होजाने देते तब मजा आता। एक नाजनीन साथ लाते, और दौलत मुफ्त। खैर तुमने जल्दी कर दी।

दिन भर मुरीदों का ताँता लगा रहा। जामिद को एक नजर देखने का सब को शौक था। सभी उसकी हिम्मत, जोर और मजहबी जोश की तारीफ करते थे।

(५)

पहर रात गुजर चुकी थी। मुसाफिरों की आमद-रफ्त कम हो चली थी। जामिद ने काजी साहब से कुरान शरीफ पढ़ना शुरू कर दिया था। उन्होंने उसके लिये अपने बगल का कमरा खाली कर दिया था। वह काजी साहब से सबक लेकर आया। सोने जा रहा था कि अचानक उसे दरवाजे पर एक ताँगे के रुकने की आवाज सुनाई दी। काजी साहब के मुरीद अक्सर आया करते थे। जामिद ने सोचा कोई मुरीद आया होगा। नीचे आया तो देखा कि एक औरत तांगे से उतर कर बरामदे में खड़ी है और तांगेवाला उसका असबाब उतार रहा है।

औरत ने मकान को इधर-उधर देखकर कहा, 'नहीं जी, मुझे अच्छी तरह ख्याल है उनका मकान यह नहीं है। शायद तुम भूल गए हो।'

तांगेवाला—'हुजुर तो मानती ही नहीं। कह दिया कि बाबू साहब ने मकान तबदील कर दिया है। ऊपर चलिए।'

औरत ने झिझकते हुए कहा, 'बुलाते क्यों नहीं ? आवाज दो।'

तांगे०—ओ साहब, आवाज क्या दूँ। जब जानता हूँ कि बाबू साहब का यही मकान है तो नाहक चिल्लाने से क्या फायदा ? बेचारे आराम कर रहे होंगे। आराम में खलल पड़ेगा। आप बे-फिक्र रहिए। ऊपर चलिए।

औरत ऊपर चली। पीछे-पीछे तांगेवाला असबाब लिए हुए था। जामिद चुपचाप नीचे खड़ा रहा। यह भेद उसकी समझ में न आया। ताँगेवाले की आवाज सुनते ही काजी साहब छत पर निकल आए। औरत को आते देखकर कमरे की खिड़कियाँ चारों ओर से बंद करके दीवाल से लटकती हुई तलवार उतार ली और दरवाजे पर आकर खड़े हो गये। औरत ने जीना तय करके ज्यों ही छत पर पैर रक्खा कि काजी को देखकर झिझकी। वह फौरन पीछे की तरफ मुड़ना चाहती थी कि काजी साहब ने लपक कर उसका हाथ पकड़ लिया और अपने कमरे में घसीट लाए। इसी बीच में तांगेवाला और जामिद भी ऊपर आ गए थे। जामिद यह हाल देखकर हैरान था। समस्या और भी कठिन हो गई थी। यह इल्म का समुद्र, यह इंसाफ का खजाना, यह ईमान का पुतला इस वक्त पराई औरत पर जुल्म कर रहा है। तांगेवाले के साथ वह भी काजी साहब के कमरे में चला गया। काजी साहब औरत के दोनों हाथ

पकड़े हुए थे। तांगेवाले ने दरवाजा बंद कर दिया। औरत ने तांगेवाले की तरफ खूनभरी आँखों से देखकर कहा, तू मुझे यहाँ क्यों लाया ? काजी साहब ने तलवार चमका कर कहा, पहले आराम से बैठ जाओ। फिर सब मालूम हो जायगा।

औरत—तुम तो कोई मोलवी मालूम होते हो। क्या तुम्हें खुदा ने यही सिखाया है कि पराई बहू-बेटियों को जबरदस्ती घर में बंद करके उनको आबरू बिगाड़ो ?

काजी—हाँ, खुदा का यही हुक्म है कि काफिरों को जिस तरह मुमकिन हो इस्लाम के रास्ते पर लाया जाय। अगर खुशी से न आवें तो जब्र से।

औरत—इसी तरह अगर कोई तुम्हारी बहू बेटी को पकड़ कर बे आबरू करे तो ?

काजी—हो ही रहा है। जैसा तुम हमारे साथ करोगे हम तुम्हारे साथ करेंगे। फिर हम तो बे-आबरू नहीं करते। सिर्फ अपने मजहब में शामिल करते हैं। इस्लाम कबूल करने से आबरू घटती नहीं बढ़ती है। हिंदू कौम ने तो हमें मिटा देने का बीड़ा उठा रक्खा है। वह इस मुल्क से हमारा नामो-निशान मिटा देना चाहती है। धोखे से, लालच से, जब्र से मुसल्मानों को बेदीन बनाया जा रहा है। तो क्या मुसल्मान बैठे मुँह देखेंगे ?

औरत—हिंदू कभी ऐसा जुल्म नहीं कर सकता। संभव

हैं, तुम लोगों की शरारतों से तंग आकर नीचे दर्जे के लोग इस तरह बदला लेने लगे हों। मगर अभी तो कोई सच्चा हिंदू इसे पसंद नहीं करता।

काजी साहब ने कुछ सोच कर कहा—बेशक, पहले इस तरह की शरारतें मुसलमान गुंडे किया करते थे। मगर शरीफ लोग इन हरकतों को बुरा समझते थे। और अपने इमकान भर रोकने की कोशिश करते थे। तालीम और मजहब की तरक्की के साथ कुछ दिनों में यह गुंडापन जरूर गायब हो जाता। मगर अब तो सारी हिंदू कौम हमें निकालने पर तैयार बैठी हुई है। फिर हमारे लिए और रास्ता ही कौन सा है ? हम कमजोर हैं, इसलिए हमें मजबूर होकर अपने को कायम रखने के लिए दगा और फरेब से काम लेना पड़ता है। मगर तुम इतना घबड़ाती क्यों हो ? तुम्हें यहाँ किसी बात को तकलीफ न होगी। इस्लाम औरतों के हक का जितना लिहाज करता है उतना और कोई नहीं करता। और मुसलमान मर्द तो अपनी औरत पर जान देता है। मेरे यह नौजवान दोस्त (जामिद) तुम्हारे सामने खड़े हैं। इन्हीं के साथ तुम्हारा निकाह कर दिया जायगा। बस, आराम के साथ जिंदगी के दिन बसर करना।

औरत—मैं तुम्हें और तुम्हारे मजहब को घृणा के योग्य समझती हूँ। तुम कुत्ते हो। इसके सिवा तुम्हारे लिये कोई दूसरा नाम नहीं। खैरियत इसी में है कि मुझे जाने दो, वरना मैं अभी

शोर मचा दूँगी। और तुम्हारा सब मोलवीपन निकल जायगा।

काजी—अगर तुमने जबान खोली तो तुम्हें जान से हाथ धोना पड़ेगा। बस, इतना समझ लो।

औरत—आबरू के सामने जान की कोई हकीकत नहीं। तुम मेरी जान ले सकते हो। मगर आबरू नहीं ले सकते।

काजी—क्यों नाहक जिद करती हो ?

औरत ने दरवाजे के पास जाकर कहा, 'मैं कहती हूँ, दरवाजा खोल दो।'

जामिद अब तक चुपचाप खड़ा था। ज्यों ही औरत दरवाजे की तरफ चली, और काजी ने उसका हाथ पकड़कर खींचा, जामिद ने फौरन दरवाजा खोल दिया। और काजी साहब से बोला, 'इनको छोड़ दीजिए।'

काजी—क्या बकता है !

जामिद—कुछ नहीं। खैरियत इसी में है कि इनको छोड़ दीजिए।

लेकिन जब काजी साहब ने उस औरत का हाथ न छोड़ा और तांगेवाला भी उसे पकड़ने के लिए बढ़ा, तो जामिद ने एक झटका देकर काजी को ढकेल दिया और उस औरत का हाथ पकड़े हुए कमरे से बाहर निकल गया। तांगेवाला पीछे लपका। मगर जामिद ने उसे इतने जोर से धक्का दिया कि वह उलटे मुँह जा गिरा ! एक पल में जामिद और औरत सड़क पर थे।

जामिद—आपका घर किस मुहल्ले में है ?

औरत—दरियागंज में।

जामिद—चलिए मैं आपको पहुंचा आऊँ ।

औरत—इससे बड़ी और क्या मेहरबानी होगी, आपने आज मेरी आबरू बचाली, वरना मैं कहीं की न रहती। मुझे अब मालूम हुआ कि अच्छे और बुरे सब जगह रहते हैं। मेरे पति का नाम पं० राजकुमार है।

उसी वक्त एक ताँगा सड़क पर आता दिखाई पड़ा। जामिद ने औरत को उस पर बिठा दिया और खुद बैठना ही चाहता था कि ऊपर से काजी साहब और तांगे वाला दोनों लाठियाँ लिए हुए उतरे। काजी साहब ने जामिद पर लट्ठ चलाया, और डंडा तांगे की छत पर पड़ा। इतने में जामिद तांगे में आ बैठा और ताँगा चल दिया। दरियागंज में पं० राजकुमार का पता लगाने में कोई दिक्कत न हुई। जामिद ने ज्योंही आवाज दी वह घबड़ाये हुए बाहर निकल आए और औरत को देखकर बोले, 'तुम कहाँ रह गईं थी, इंदिरा ? मैंने तुम्हें स्टेशन पर कहीं न देखा। मुझे पहुँचने में जरा देर हो गई थी। तुम्हें इतनी देर कहाँ लगी ?'

इंदिरा ने घर के अंदर पैर रखते हुए कहा, 'बड़ी लंबी कथा है। जरा दम लेने दो तो बताऊँगी। बस इतना ही समझ लो कि अगर इस मुसलमान ने मेरी मदद न की होती तो आबरू

चली गई होती।' पंडितजी पूरी कथा सुनने के लिए और बेकरार हो उठे। इंदिरा के साथही वह भी घर में चले। मगर एकही मिनट में बाहर आकर जामिद से बोले, 'भाई साहब, शायद आप बनावट समझें, मगर मुझे आपकी शकल में इस वक्त अपने इष्टदेव के दर्शन हो रहे हैं। मेरी जबान में इतनी ताकत नहीं कि आपका शुक्रिया अदा कर सकूं। आइए बैठ जाइए।'

जामिद—'जी नहीं, आप मुझे इजाजत दीजिए।'

पंडितजी—'मैं आपकी इस नेकी का क्या बदला दे सकता हूँ ?'

जामिद—'इसका बदला यही है कि इस शरारत का बदला किसी गरीब मुसलमान से न लीजिएगा। यही मेरी प्रार्थना है।'

यह कह कर जामिद चल खड़ा हुआ और उस अँधेरी रात के सन्नाटे में शहर के बाहर निकल गया। उस शहर की अपवित्र हवा में साँस लेते हुए उसका दम घुटता था। वह जल्दी से जल्दी शहर से भागकर अपने गाँव में पहुँचना चाहता था, जहाँ धर्म का नाम सहानुभूति, दया, प्रेम और स्नेह था।

धर्म और धार्मिक लोगों से उसे घृणा हो गई थी।

बिहारी की बहुज्ञता

[श्री पद्मसिंह शर्मा]

कवि के विषय में किसी विद्वान् का कथन है कि "कवि प्रकृति का पुरोहित होता है"—जिस प्रकार पुरोहित के लिये यजमान के समस्त कुलाचारों और रीति रिवाजों का अंतरंग-ज्ञान आवश्यक है, इसी प्रकार कवि को भी प्रकृति के रहस्यों का मर्मज्ञ होना उचित है। इसके बिना कवि, कवि नहीं हो सकता। कवि ही प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा ऐसी बातें चुन सकता है जिन पर दूसरे मनुष्य की दृष्टि नहीं जाती, जाती भी है तो तत्व तक नहीं पहुँचती। तहतक पहुँचकर कोई ऐसी बात नहीं निकल सकती, जो साधारण प्रतीत होने पर भी असाधारण शिक्षाप्रद हो, लौकिक होने पर भी अलौकिक आनंदोत्पादक हो और सैकड़ों बार की देखी भाली होने पर भी नवीन चमत्कार दिखानेवाली हो। प्रकृति के छिपे और खुले भेदों को सर्वसाधारण के सामने मनोहर रूप में प्रकट करना ही कवि का काम है। "अज्ञेयमीमाँसा" करने बैठना, आकाश के तारे तोड़ने दौड़ना, कवि का काम नहीं है। कभी कभी कवि को ऐसा भी करना पड़ता है सही, पर वह मुख्य दार्शनिकों का काम है। कवि का

काम इससे भी बड़ा गहन है केवल व्याकरण और छंदः शास्त्र के नियमों से अभिज्ञ होकर वर्णमात्रा के कांटे में नपी तुली पद्य-रचना का नाम कवित्व नहीं है, जैसा की आज कल प्रायः समझा जाने लगा है। सूक्ष्मदृष्टि से प्रकृति के पर्यवेक्षण की असाधारण शक्ति रखने के अतिरिक्त विविध कलाओं, अनेक शास्त्रों का ज्ञान भी कवि के लिये आवश्यक है जैसा कि कविता-मर्मज्ञों ने कहा है—

"न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान् कवेः॥"

अर्थात्—न ऐसा कोई शब्द है न ऐसा अर्थ है न ऐसा कोई न्याय है और न कोई ऐसी कला है, जो काव्य का अंग न हो इसलिए कवि पर कितना भारी भार है, कुछ ठिकाना है! इस सब भार को अपनी लेखनी की नोक पर उठाने की जो शक्ति रखता है वही महाकवि है।

"सकलविद्यास्थानैकायतनं पंचदशं काव्यं विद्यास्थानम्"

—राजशेखर

(जहाँ चौदह विद्या-स्थानों का एक जगह संगम होता है वह 'काव्य' पंद्रहवाँ 'विद्या-स्थान' है।

यह सब बातें बिहारी की कविता में प्रचुर परिमाण में पायी जाती हैं सतसई पढ़ने से प्रतीत होता है कि बिहारी का प्रकृति

पर्यवेक्षण बहुत ही बढ़ा चढ़ा था। मानव-प्रकृति का उन्हें असाधारण ज्ञान था। इसके वह सचमुच पूरे पुरोहित थे। उनका संस्कृत-साहित्य का पांडित्य इससे ही सिद्ध है कि संस्कृत के महारथी कवियों के मुकाबिले में उन्होंने अद्भुत पराक्रम दिखलाया है—संस्कृत पद्यों की छाया पर रचना करके, नवीन चमत्कार लाकर कहीं कहीं उन आदर्श पद्यों को विच्छाय बना दिया है। गणित, ज्योतिष, वैद्यक, इतिहास, पुराण, नीतिशास्त्र और दर्शनों में भी उनका अच्छा प्रगाढ़ परिचय था। जैसा कि आगे के अवतरणों से सिद्ध है।

बिहारी की प्रतिभा का विहारस्थल बहुत विस्तृत था, सर्वत्र समान रूप से उसकी गति अप्रतिहत थी। भास्कर की प्रभा की तरह वह प्रत्येक पदार्थ पर पड़ती थी। यही नहीं जहाँ सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँचती, वहाँ भी वह पहुँचती थी। 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' इस कथन की पुष्टि बिहारी की कविता से अच्छी तरह होती है। सूर्य की किरणें आलोकग्राही पदार्थ पर पड़ कर अपने असली रूप में प्रतिफलित होती हैं, दूसरी जगह नहीं, परंतु बिहारी की अद्भुत प्रतिभा का प्रकाश जिस पदार्थ पर भी पड़ा, उसे ही अपने रूप में चमका कर दिखा दिया। गणित, ज्योतिष, इतिहास, नीति और दार्शनिक तत्त्वों से लेकर बच्चों के खिलौने, नटों के खेल, ठगों के हथकंडे, अहेरी का शिकार, पौराणिक की धार्मिकता, पुजारी

का प्रसाद, वैद्य की पर-प्रतारणा, ज्योतिषी का ग्रहयोग, सूम की कंजूसी, जिसे देखिये वही कविता के रंग में रंगा चमक रहा है।

इस जगह सब के उदाहरण देना कठिन है, बात बहुत बढ़ जायगी, इसलिए इस प्रकार के कुछ नमूनों से ही संतोष करना होगा। किसी काव्य पर कुछ लिखते हुए प्रारंभ में उस काव्य से सुंदर सूक्तियों के नमूने देने की रीति है, हम भी चाहते थे कि ऐसा करें—इस प्रकरण में बानगी के तौर पर कुछ सूक्तियों के नमूने सतसई से उद्धृत करें—पर इस इच्छा से विवशतावश विरत होना पड़ा। इसके दो कारण हैं, एक तो अनेक सूक्तियाँ तुलनात्मक समालोचना में और विरह-वर्णन में आगई हैं, कुछ इस प्रसंग में आ जायँगी, कुछ सतसई संहार में मिलेंगी। इसलिए पृथक देने की कुछ आवश्यकता न रही। दूसरे सतसई में किसे कहें कि यह सूक्ति है और यह साधारण उक्ति है। इस खाँड़ की रोटी को जिधर से तोड़िये उधर से ही मीठी है, इस जौहरी, की दूकान में सब ही अपूर्व रत्न हैं। बानगी में किसे पेश करें। एक को खास तौर पर आगे करना दूसरे का अपमान करना है, जो सहृदयता की दृष्टि से हम समझते हैं अपराध है। रुचि भेद से किसी को कोई सूक्ति अच्छी जँचे, कोई वैसी न जँचे, यह और बात है। किसी को शब्दालंकार पसंद है किसी को अर्थालंकार, कोई वर्णनवैचित्री पर रीझता

है तो कोई सादगी पर फ़िदा है, कोई रस पर मरता है तो कोई बंधसौष्ठव पर जान देता है। कोई पदार्थ का उपासक है तो कोई पदावली के पांव पूजता है।

सतसई के विषय में स्वर्गीय राधाकृष्णदास जी की यह सम्मति सोलह आना सत्य है —

"यह सतसई भाषा की कविता की टकसाल है"

और बिहारीलाल के संबंध में गोस्वामी श्रीराधाचरण जी की इस युक्ति में कुछ भी अत्युक्ति नहीं है कि—

"यदि सूर सूर, तुलसी शशी, उड़गन केसवदास हैं तो बिहारी पीयूषवर्षी मेघ है, जिसके उदय होते ही सब का प्रकाश आछन्न हो जाता है फिर उसकी वृष्टि से कवि-कोकिल कुहकने, मनोमयूर नृत्य करने और चतुर-चातक चुहकने लगते हैं। फिर बीच बीच में जो लोकोत्तर भावों की विद्युत चमकती है, वह हृदयच्छेद कर जाती है।"

भाषा पर बिहारी का असाधारण अधिकार था। सतसई की भाषा ऐसी विशुद्ध है और शब्द रचना इतनी मधुर है कि सूरदास को छोड़कर दूसरी जगह उसकी समता मिलनी दुर्घट है, सतसई के संबंध में ब्रजभाषा के किसी पुराने पारखी की यह सम्मति सर्वथा सत्य है—

"ब्रजभाषा वरनी सबै, कविवर बुद्धि-विसाल ।
सबकी भूषन सतसई, रची बिहारी लाल ॥"

ब्रजभाषा के मर्मज्ञ का विदग्ध हृदय इस कथन की सत्यता

का साक्षी है। ब्रजभाषा को 'सिर्फ सूँघकर परखने वाले कुछ महापुरुषों की दिव्य दृष्टि में इसकी भाषा वैसी बढ़िया' चाहे न हो, पर भाषा के जौहरी भाव से भी अधिक इसकी परिष्कृत भाषा पर लट्टू हैं। इस समय जब कि खड़ी बोली के जोशीले नौजवानों की ब्रिगेड ने ब्रजभाषा के 'विजन' का बिगुल बजाकर कतलेआम मचा रखा है, खड़ी बोली की किरातपुरी के तोते तक जब इसे देखकर दास्य, मास्य, त्रस, 'पिब' कह कर चिल्ला रहे हैं, तब ब्रजभाषा के सौष्ठव की दुहाई देना, नक्कारखाने में तूती की आवाज पहुंचाने के बराबर है। ब्रजभाषा के मर्मज्ञ स्वयं जानते हैं कि सतसई की भाषा कैसी कुछ है और जो नहीं जानते हैं वे किसी के समझाने से भी क्या समझेंगे।

गणित का ज्ञान

कहत सबै बेंदी दिये आँक दसगुनों होत।
तिय लिलार बेंदी दिये अगनित बढ़त उदोत॥
कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोत।
बंक विकारी देत ज्यों दाम रुपैया होत॥

गणित के मूल सिद्धांत का कविता के रूप में कितना मनोहर निदर्शन है। गणित के सिद्धांत से अपने मतलब की बात कितने अच्छे ढंग से सिद्ध की है। विंदु (शून्य) देने से अंक दसगुना हो जाता है। और तिरछी विकार लगाने से दाम के रुपये बन जाते हैं। यह सब गणितज्ञ जानते हैं। पर इस तरह कहना

कवि ही जानता है। गणित-शास्त्र में दसगुणोत्तरा संख्या रखने की चाल है। इकाई को दस से गुनकर दहाई और उसे दस से गुनकर सैकड़ा (शत) इत्यादि दशगुणोत्तर संख्या बनाते हैं। पर यहाँ बिहारीजी के गणित में कुछ दूसरा ही चमत्कार है—यहाँ दसगुणित नहीं असंख्य-संख्या-गुणित-अंक (उद्योत) पैदा हो जाते हैं। यह कवि की प्रतिभा का ही काम है।

ज्योतिष का चमत्कार

मंगल विंदु सुरंग, ससि मुख केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ॥

इस सोरठे में बिहारी ने अपने ज्योतिष ज्ञान का परिचय बड़े मनोहर रूप में दिया है। ज्योतिष का सिद्धांत है कि जब वृहस्पति और मंगल के साथ, चंद्रमा एक राशिपर आता है तो देशव्यापक वृष्टि होती है—

'गुरु-भौम-समायोगे करोत्येकार्णवां महीम्'

ज्योतिष के इस तत्व को कवि ने कितना कमनीय रूप दिया है। लौकिक पुरुषों को जितना आनंद इस भौतिक वृष्टि से होता है उससे कहीं अधिक विदग्ध सहृदयों को इस कविता-मृतवर्षा से होता है।

माथे पर लगी लाल वेंदी, मंगल है। मुख चंद्रमा है। उसपर केसर का (पीला) तिलक वृहस्पति है। इन सबने एक

नारी (नाड़ी)—ज्योराशि—में इकट्ठे नेत्र-होकर संसार को रसमय (अनुरागमय, जलमय) कर दिया—

मंगल का रंग लाल होता है इसलिए उसका 'अंगारक' और 'लोहितांग' नाम है। सो यहाँ वेंदी है। वृहस्पति का वर्ण पीला है वह यहाँ केसर का तिलक है। मुख की चंद्रता प्रसिद्ध ही है। 'नारी' और 'रस' शब्द श्लिष्ट हैं (रस-जल और शृङ्गार, 'रसोजल रसो हर्षो रसः शृंगार उच्यते ॥')

यह सोरठा, श्लेषानुप्राणित समस्त-वस्तु-विषय-सावयव रूपक का और कवि के ज्योतिष ज्ञान का उत्कृष्ट उदाहरण है।

महाकवि गालिब ने भी (नीचे के शेर में) ज्योतिष के फलादेश की परीक्षा आशिकों की किस्मत पर करनी चाही है, और मौलाना हाली ने इसे कवि की प्रतिभा का उत्तम उदाहरण बतलाकर कहा है कि आशिक अपनी धुन में इतना मस्त (तल्लीन) है कि उसे हर जगह अपने ही मतलब की सूझती है, ज्योतिषी ने जो साल को अच्छा बतलाया है, उसका असर संसार की अन्य घटनाओं पर क्या होगा, इससे उसे कुछ मतलब ही नहीं वह देखना चाहता है कि देखें आशिक इस साल बुतों से क्या फ़ैज़ (लाभ) पाते हैं।

देखिये पाते हैं, उश्शाक बुतों से क्या फ़ैज़,
इक बिरहमन ने कहा है कि यह साल अच्छा है।

(ग़ालिब)

सनि कज्जल चख झख लगनि उपज्यो सुदिन सनेह।
क्यों न नृपति ह्वै भोगवै लहि सुदेस सब देह॥

ज्योतिष का सिद्धांत है कि जन्म समय में यदि शनि, गुरु, की राशि—अर्थात् धन या मीन में, और स्वराशि—मकर या कुंभ में तथा उच्चराशि—तुला में हो तो इस सुलग्न में जन्म लेने वाला मनुष्य नरपति होता है। जैसा कि लिखा है—

"गुरुस्वर्क्षोच्चस्थे नरपतिः।"

(वराहमिहिर बृहज्जातक)

कवि के स्नेह-बालक की जन्म-कुंडली में देखिये यह योग कैसा अच्छा पड़ा है—आँखका का जल—शनि है। चख—चक्षु मीन है,—(शनिका रंग नीला है और मीन नेत्र का उपमान है यथा मीनाक्षी)—ऐसे सुयोग में जिसका जन्म हुआ है वह स्नेह-बालक, सब देह रूप देश पर अधिकार जमा कर—राजा बन कर—क्यों भोग न करेगा? अवश्य करेगा ज्योतिष की बात कभी झूठ हो सकती है। ज्योतिष के फलादेश में किसी को संदेह भी हो सकता है, पर बिहारी के इस ज्योतिष में संदेह का अवसर नहीं है।

तिय तिथि तरनि-किसोर, वय पुन्न (पुन्य) काल सम दोन।
काहू पुन्यन पाइयत वैस-संधि-संक्रोन॥

इस दोहे में संक्रांति के पुराय प्राप्य पर्व का कितना अच्छा रूपक है। इस रूपक के 'ब्रह्मकुंड' में रसिक भक्तों के मन अनगिनत गोते लगा रहे हैं।

वैद्यक विज्ञान

"मैं लखि नारो ज्ञान, करि राख्यो निरधार यह।
वह ई रोग निदान, वहै, वैद औषध वहै॥"

कविता के नलके में वैद्यक विज्ञान का 'आसव' खींचकर इस सोरठे की शीशी में भर दिया है। वैद्यक में और है क्या ? नाड़ी-ज्ञान, रोगनिदान, औषधि और वैद्य! मूल बातें यह तीन चार हैं, बाकी इसकी व्याख्या है।

नारी—(नाड़ी)-ज्ञान से क्या अच्छा रोग का निदान किया है?

"वहई रोग निदान, वहै, वैद्य औषध वहै"

वही रोग का निदान (आदि कारण) वही वैद्यक-चिकित्सक और वही औषध है।

"यह तर्ज़ अहसान करने का तुम्हीं को ज़ेब देता है,
मरज़ में मुब्तला करके मरीज़ों को दवा देना"

(अकबर)

"मुहब्बत में नहीं है फर्क जोने और मरने का।
उसीको देखकर जीते हैं जिस काफ़िर पै दम निकले॥"

(ग़ालिब)

"यह विनसत नग राखिकै जगत बड़ौ जस लेहु।
जरी विषम-जुर-ज्याइये आय सुदर्शन देहु॥"

इस नष्ट होते हुए नग (रत्नकामिनीरत्न) को बचा कर

जगत में बड़ा यश प्राप्त करो विषम ज्वर में जली हुई को 'सुदर्शन' देकर जिलाओ।

वियोग-व्याधि ने विषम ज्वर का रूप धारण किया है, उसकी निवृति के लिये सुदर्शन (सुंदर दर्शन) अपेक्षित है।

'विषमज्वर' और 'सुदर्शन' पद श्लिष्ट हैं।

इतिहास पुराण-परिचय

ये दोहे कवि के इतिहास-परिचय में पुष्ट प्रमाण हैं—

विरह विथा-जल-परस विन वसियय मो हिय-ताल।
कछु जानत जल-थंभ विधि, दुरजोधन लौं लाल।

दुर्योधन को 'जलस्तंभन विद्या' सिद्ध थी। उसी के प्रताप से वह युद्ध के अंत में कुछ काल तक तालाब में छिपे बैठे रहे थे।

यह ऐतिहासिक उपमा कविता में आकर कितनी चमत्कृत हो गयी है। कोई विरहिणी कहती है—

हे लाल! दुर्योधन के समान तुम भी कुछ जलस्तंभविधि जानते हो, तभी तो विरह-व्यथा-जल के स्पर्श से बचे रह कर मेरे हृदय-सरोवर में (आराम से) बैठे हो ? हृदय में रहते हो पर उसमें भरे विरह-व्यथा के जलका—विरह व्यथा का—तुम्हें स्पर्श नहीं होता बड़े बेपीर हो। (चिकने घड़े हो)

बसि सकोच-दस-वदन-वस साँच दिखावति बाल।
सिय लौं सोधति तिय तनहि लगनि-अगनि की ज्वाल॥

रामायण की प्रसिद्ध घटना 'अग्नि परीक्षा का' उल्लेख इस दोहे में कितनी उत्तमता से किया है। विवश होकर सीता जी को रावण के यहाँ रहना पड़ा था। वहाँ से छुटकारा पाने पर उन्होंने अपने सत्य की परीक्षा अग्नि में प्रवेश करके दी थी। यहाँ संकोच (लज्जा-संचारी) प्रियदर्शन में बाधक होने से रावण है, लगन—दृढ़ प्रेम, अग्नि है। सोधना—उत्कंठा-पूर्वक स्मरण करना—(सोधित पद श्लिष्ट है—देह शुद्ध करना और स्मरण करना)—तनुशोधन है।

अर्थात उसे संकोच ने ही अब तक तुमसे नहीं मिलने दिया संकोच ही मिलने में बाधक था, प्रेम का अभाव नहीं, उसका तुममें सच्चा अविचल प्रेम है। इसकी परीक्षा वह लगन की अग्नि में बैठकर दे रही है। तुम्हारा स्मरण कर रही है। संदेह छोड़कर उसे अंगीकार करो !

नीति निपुणता

दुसह दुराज प्रजानि कौं, क्यों न बढ़े दुख दंद।
अधिक अँधेरौ जग करत, मिल मावस रवि चंद॥

जब 'दुअमली' होती है—प्रजा पर दुहरे शासकों का शासन होता है—तो प्रजा के दुख बेतरह बढ़ जाते हैं संसार के इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। दो फकीर एक गुदड़ी में गुजारा कर लेते हैं पर दो राजा एक 'रजाई' में नहीं रह सकते, यह एक प्रसिद्ध कहावत है। जब कभी कहीं दुर्भाग्यवश

ऐसा हुआ है, प्रजा पर विपति के बादल छा गये हैं। प्रजा-पीड़न पराकाष्ठा को पहुंच गया है।

बिहारी ने यह बात एक ऐसे दृष्टांत से समझाई है जिसे सदा सब कोई देखते हैं। पर नहीं समझते कि क्या बात है। अमावस के दिन अंधकार के आधिक्य का क्या कारण है ? यही दुअमली। उस दिन आकाश के दो शासक—सूर्य और चंद्र—एक राशि में इकट्ठे होते हैं। जिससे संसार में आदर्श अंधकार छा जाता है।

सवैया

एक रजाई समै प्रभु द्वै सु तमोगुन को बहु भाँति बढ़ावत।
होत महा दुख दुंद प्रजान को और सबै सुभकाज थकावत॥
"कृष्ण" कहै दिननाथ निसाकर एक हो मंडल में जब आवत।
देखौ प्रतच्छ अमावस को अँधियारो कितौ जग में सरसावत॥

(कृष्ण कवि)

कहै इहै श्रुति सुमृति सो यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक हि राजा पातक रोग॥

श्रुति स्मृति और सयाने—नीति-निपुण—लोगों की नीति, सब इसमें एक स्वर से सहमत हैं कि राजा, पातक और रोग, ये तीन 'निसक'—निःशक्त निर्बल को ही दबाते हैं।

'ज्ञानी' लोग सब कुछ करते हुए भी "पद्मपत्रमिवाम्भसा" निर्लिप्त रहते हैं! ज्ञानाग्नि की प्रचंड ज्वाला, उनके पातक पुंज को तृण समूह की तरह भस्म कर डालती है। जिन पातकों

का ज्ञानहीन मनुष्य के लिये प्राणांत प्रायश्चित बतलाया है प्रचंड ज्ञानी (प्रबल शासक जाति के समान) उससे एकदम बरी समझे गये हैं। मतलब यह कि ज्ञान-बलहीन को पातक दबाते हैं। देह-बलहीन को रोग दबाते हैं। और पराक्रम हीन—शासन-बल-रहित—जाति को राजा दबाते हैं। संसार का इतिहास इसमें साक्षी है।

"सर्वो बलवतां धर्मः सर्व बलवतां स्वकम्।
सर्व बलवतां पथ्यं सर्व बलवतां शुचि॥" (महाभारत)

बसै बुराई जासु तन ताही कौ सनमान।
भलौ भलौ कहि छाड़िये खोटे ग्रह जप दान॥

संसार में सीधे सच्चे और भले आदमी का गुजारा नहीं उसे कोई पूछता ही नहीं। छली, कपटी और प्रपंची की सब जगह पूजा होती है, पर पीड़न में जो जितना ही प्रवीण है, उतना ही उसका आदर होता है जिसने छल, बल से दूसरों को दबा कर अपनी धाक बिठाली—सिक्का जमा लिया उसी का लोहा सब मानते हैं। सीधे बेचारे एक कोने में पड़े सड़ते रहते हैं उनकी ओर कोई आँख उठाकर भी नहीं देखता। जो खोटे ग्रह हैं (शनैश्चरादि) जिनसे किसी को हानि पहुंच सकती है—उन्हीं के नाम पर जप और दान किया जाता है। भले को भला कह कर छोड़ देते हैं। अजी यह स्वभाव ही से साधु हैं, माधो के लेने में न उधो के देने में।

दार्शनिक तत्व

"मैं समुझ्यो निरधार—यह जग काँचो काँच सो।
एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियत जहाँ॥"

'अध्यासवाद' और 'विवर्त्तवाद' के समान 'प्रतिबिंबवाद' वेदांत शास्त्र का एक प्रसिद्ध वाद है। इस सोरठे में कवि ने वेदांत के 'प्रतिबिंबवाद' को कविता के साँचे में ढालकर कितना कमनीय रूप दे दिया है। संसार की असारता दिखाने के लिये काँच का दृष्टांत यहाँ कैसा चमक रहा है, इसमें संसार की असारता किस प्रकार पड़ी झलक रही है!

इस दृश्य प्रपंच के वेदांतमतानुसार ये पाँच अंश हैं—

"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततोद्वयम्॥"

(पंचदशी)

अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम, ये पाँच अंश है इनमें पहिले तीन—अस्ति, भाति और प्रिय अंश ब्रह्म का रूप है और पिछले दो—नाम और रूप जगत का स्वरूप है। प्रत्येक पदार्थ में सत्ता प्रकाश और प्रेमास्पदता, ब्रह्म का रूप है, जो सत्य है। घट-पटादि नाम और आकार संसार का रूप है और यही मिथ्या है।

यह जगत काँच के शीशे की तरह कच्चा—छण भंगुर है। ज्ञान की जरा ठेस लगते ही चकनाचूर हो जाता है प्रतिबिंबग्राही होने से

एक ही ब्रह्म प्रतिबिंबित हुआ दीख रहा है, यह सब उसी का विराट-रूप है, जो देख रहे हो। नानाभाव की पार्थक्य प्रतीति का कारण नाम, रूप, मिथ्या है।

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" "नेह नानास्ति किञ्चन" इंद्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥"

इत्यादि शतशः श्रुतियाँ इस बात का प्रतिपादन डंके की चोट कर रही हैं।

अज्यौं तरयोना ही रह्यौ श्रुतिसेवत इक अंग।
नाकबास बेसर लह्यौ बसि मुक्तन के संग॥

संसार सागर से पार होने के लिए जीवन्मुक्त पुरुषों की संगति भी एक मुख्य उपाय है यही बात इस दोहे में एक मनोहर श्लेष में लपेट कर एक निराले ढँग से कही गई है 'तरौना' कान के एक आभूषण का नाम है जिसे तरकी या ढेढ़ी भी कहते हैं, 'बेसर' नाक का भूषण (नथ) है। इस दोहे में कवि ने श्लेष के बल से बड़ा अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। कहते हैं कि श्रुति (कान) रूप एक अंग का सेवन करने वाला तरौना अब तक 'तरयौना' ही है और 'मुकनि के संग बसि' मोतियों के साथ रह कर 'बेसर' ने नाकबास प्राप्त कर लिया है—नाक में स्थान पा लिया। इसका दूसरा प्रतीयमान अर्थ है कोई किसी मुमुक्षु

से कह रहा है कि मुक्ति चाहते हो तो जीवन्मुक्त महात्माओं की संगति करो, श्रुति-सेवा भी एक संसार तरणोपाय है सही, किंतु इससे शीघ्र ही नहीं तरोगे देखो यह कान का तरौना श्रुतिरूप एक अंग का कब से सेवन कर रहा है पर अब तक 'तरयौना ही रह्यो'—तरा नहीं, तरौना ही बना है। और बेसर ने 'मुक्तनि के संग बसि' मुक्तों की संगति पाकर 'नाक-बास लह्यो'—बैकुंठ—सालोक्य मुक्ति—प्राप्त करली।

अथवा केवल श्रुति सेवी मुमुक्षु से कह रहा है कि एक अंग श्रुति का सेवन करते हुए तुम अब तक नहीं तरे—विचारतरंगों में गोते खा रहे हो और वह देखो अमुक व्यक्ति की सत्संगति से 'बेसर'—अनुपम नाकवास—बैकुंठप्राप्ति—सायुज्यमुक्ति प्राप्त करली। दोहे के तरयौना, श्रुति, अंग, नाक, बेसर, मुक्तनि ये सब पद श्लिष्ट है।

संगति की महिमा से ग्रंथ भरे पड़े हैं गोस्वामी तुलसीदास ने भगवद्भक्तों की सत्संगति की महिमा बड़े समारोह से समझाई है। पर इस चमत्कारजनक प्रकार से किसी ने कहा हो, सो हमने नहीं सुना। बिहारी अपने कविता प्रेमियों की नब्ज पहिचानते हैं, वे जानते हैं कि 'अपने बावले' को किस प्रकार समझाया जाता है। रसलोलुप कविताप्रेमी सत्संगति की महिमा किस रूप में सुनना पसंद करेंगे। रात दिन जो चीजें प्रेमियों की नजर में समायी रहती हैं उनकी ओर इशारा करके ही उन्हें यह तत्व समझाना चाहिए। कवि के लिये यही उचित है। नीरस उपदेश पर

रसिक-रोगी कब कान देता है। सुनता भी नहीं आचरण करना तो दूर रहा।

कवि जब विषयासक्त प्रेमी को विषयासक्ति का दुष्परिणाम समझाना चाहता है तो उसके लिये किसी पतित भक्त या योगभ्रष्ट ज्ञानी का दृष्टांत देने को वह इतिहास के पन्ने पलटने नहीं बैठता। वह उस विषयी की दृष्टि में बसी हुई चीज को सामने दिखाकर झटपट बोल उठता है कि देखो, विषयासक्त की दुरंतता।

जोग जुक्ति सिखई सबै मनो महामुनि मैन।
चाहत पिय अद्वैतता कानन सेवत नैन॥

इस दोहे में योगदक्ष कानन-सेवी ब्रह्माद्वैताभिलाषी वानप्रस्थ की समाधि (प्रतीत) है। जिस प्रकार किसी सद्गुरु महामुनि से योग की दीक्षा पाकर कोई प्रधान पुरुष प्रिय परम-प्रेमास्पद-ब्रह्म से अद्वैत—अभेद—चाहता हुआ, कानन—वन का सेवन करता है, इसी प्रकार कामिनी के नयन, महामुनि मदन से योगयुक्ति—प्रिय संगम की युक्ति—सीखकर कानों का सेवन कर रहे हैं।

योग, अद्वैतता, कानन, पद श्लिष्ट हैं 'योगः संहननोपायध्यान संगतियुक्तिषु' के अनुसार मुनि के पक्ष में योग का अर्थ ध्यान है। नेत्र के पक्ष में संगति।

बुधि अनुमान प्रमान श्रुति किये नीठि ठहराइ।
सूक्ष्म कटि पर-ब्रह्म लौं अलख लखी नहिं जाइ॥

इस दोहे में कवि ने परमसूक्ष्म कटि को अलख परब्रह्म की

उपमा देकर कौतूहल-जनक कमाल किया है। पूर्वार्ध में ब्रह्म-दर्शन के उपायों का निर्देश करने वाली एक सुप्रसिद्ध श्रुति को किस मार्मिकता से निराले ढंग पर व्यक्त किया है।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः।'

श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म के संबंध में सुना, अनुमान के द्वारा उसके सच्चिदानंद स्वरूप को जाना, निरंतर ध्यान द्वारा किसी प्रकार इस तत्व को बुद्धि में ठहराया, फिर भी ब्रह्म, ऐसा अलक्ष्य (अलख) है कि लखा नहीं जाता—उसका साक्षात्कार नहीं होता।

'कटि' (कामिनी की कमर) भी कुछ ऐसे ही सूक्ष्म और अलख है। श्रुति—शब्द-प्रमाण—द्वारा सुनते हैं कि कमर है,—'सनम! सुनते हैं तेरे भी कमर है'—फिर अनुमान करते हैं कि यदि कमर नहीं है तो यह शरीर—प्रपंचस्तन-शैल, मुख-चंद्र आदि किसके सहारे ठहरे हुए हैं। 'ब्रह्म' नहीं है तो यह विश्व-प्रपंच—हिमालयादि-पर्वत, चंद्रादि ग्रह-मंडल किसमें स्थित हैं—कल्पित हैं। इसीलिए कटि—ब्रह्म अवश्य है। इस तत्व को कटि ब्रह्म के सत्तास्वरूप को—निरंतर ध्यान द्वारा किसी प्रकार बुद्धि में ठहराते हैं। फिर भी 'अलख लखो नहिं जाइ' उसका साक्षात्कार नहीं होता, नजर नहीं आती दिखलायी नहीं देती—'कहाँ है किस तरफ को है, किधर है,' यही कहते रह जाते हैं।

'सूछमकटि परब्रह्म सी अलख लखी नहिं जाय'।

पूर्ण दार्शनिक 'पूर्णोपमा' है। परब्रह्म उपमान। कटि उपमेय। लखी नहीं जाय, साधारण धर्म। 'सी, या, लौं' वाचक। देखा वाचक! कैसी मनोहर पूर्णोपमा है।

हिंदी संसार के सुप्रसिद्ध प्रतिभाशाली वश्यवाक् वर्तमान कविराज श्रीयुत पंडित नाथूराम शंकर जी शर्मा 'शंकर' ने भी दार्शनिक कविता के रूप में अनोखे ढंगपर 'कमर की अकथ कहानी' कही है, कटि का चमत्कृत वर्णन इस प्रकार किया है—

घनाक्षरी

'पास के गये पै एक बूँद हू न हाथ लगै,
दूरसों दिखात मृगतृष्णिका में पानी है।
"शंकर" प्रमाण-सिद्ध रंग को न संग पर,
जान पड़े अंबर में नीलिमा समानी है॥
भाव में अभाव है अभाव में धौं भाव भरयो,
कौन कहै ठीक बात काहूने न जानी है।
जैसे इन दोउन में दुविधा न दूर होत,
तैसे तेरी कमर की अकथ कहानी है'॥

जनाब "अकबर" ने भी अपने खास रंग में कमर की कायनात बयान करने में कमाल किया है, क्या खूब फर्माया है।

कहीं देखा न हस्ती वो अदम का इश्तराक ऐसा।
जहाँ में मिस्ल रखती ही नहीं उनकी 'कमर' अपना।

'जो पूछा नेस्ती हस्ती में क्यों कर फर्क जाहिर हो।
'कमर' ने यार की ईमा किया मैं हद्दे-फासिल हूँ ॥'
जगत जनायो जिहिं सकल सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिये आँखि न देखी जाहिं ॥

यह सब जगत (जिसकी सत्ता से स्थित और) जिसके प्रकाश से प्रतिभासित हो रहा है अपनी माया से रचकर जो इसे दिखा रहा है वह स्वयं 'अज्ञेय' है, नहीं जाना जाता, नहीं दीख पड़ता। आँख से सब कुछ देखा जाता है सबको आँख से देख सकते हैं पर स्वयं आँख(अपने आपको) नहीं दीखती। आँख को आँखसे नहीं देखपाते।

कितनी पते की बात कही है कैसा सुंदर दृष्टांत है। यह जितना सहज और सरल है उतना ही निगूढ़ दर्शिनिक रहस्य इसमें छिपा है इसकी व्याख्या में बहुत कुछ कहा जा सकता है।

भक्ति मार्ग

बिहारीलाल जिस प्रकार ज्ञानमार्गगामी थे इसी प्रकार भक्ति-पंथ के प्रवीण पथिक थे। इसके भी दो चार दोहे सुन लीजिये। कैसे नावक के तीर हैं।

पतवारी माला पकरि, और न कछू उपाव।
तरु संसार पयोधि कौं, हरि नामै करि नाव॥

कैसा अच्छा रूपक बांधा है, और कितनी सच्ची बात कही है। हरि नाम को नाव बना और जपमाला की पतवार पकड़—बस इस संसार-समुद्र को तर जा, और कोई उपाय पार उतरने का नहीं है।

तौ लगि या मन-सदन में हरि आवहिं किहि बाट।
निपट बिकट जब लगि जुटे, खुलहिं न कपट-कपाट॥

कितनो मनोहर रचना है, कर्ण कटु टकार की वहार इस जगह कितनी श्रुति मधुर मालूम दे रही है। कपटी भक्त को क्या फटकार बतलाई है।

जब तक कपट के विकट किवाड़ जुटे हैं, तब तक मनरूप मंदिर में हरि किस रास्ते से आवें। जरा सोचो तो, लोहे के फाटक से मकान को मजबूती के साथ बंद कर रक्खा है और चाहते हो कि कोई भला आदमी उसके अंदर पहुँच कर तुम्हें कृतार्थ करे।

'ईं खयालस्तो महालस्तो जनूँ'

जपमाला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
मन काँचे नाचे वृथा सांचे रांचे राम॥

इस दोहे के दंड-प्रहार ने भंड-भक्ति का भांड़ा फोड़ दिया है।

दूरि भजन प्रभु पीठ दै, गुन विस्तारन काल।
प्रगटत निरगुन निकट हि, चंग रंग गोपाल॥

बिलकुल नई बात कही है। साकार या सगुण के उपासक, निराकार या निर्गुण के उपासकों पर ताना मारा करते हैं कि निर्गुण को उपासना हो हो नहीं सकती। बिहारी कहते हैं कि गुण विस्तार करने के—सगुण रूप की उपासना के—समय प्रभु पीठ देकर दूर भागते हैं।

उसके गुण अनंत हैं कोई पार नहीं पा सकता, फिर कोई सगुणोपासक उसे क्षीरसागर में ढूँढ़ता है, कोई बैकुंठ में खोजता है, कोई कैलाश पर, और कोई और कहीं। पर निर्गुणोपासन में वह पास ही प्रकट हो जाता है जहाँ ध्यान करो वहीं उसकी प्राप्ति सुलभ है चंगकी—पतंग की—डोरी को जितना ही बढ़ाओ उतना ही पतंग ऊपर जाता है—डोरी (गुण) काट दो तो पासही आ पड़ता है। 'चंग रंग' चंग की तरह। कोई इसका अर्थ यह भी कहते हैं कि गुण-विस्तार काल में—सत्व रजस्तमो-लक्षण-गुणविशिष्ट पुरुषों से वह (ईश्वर) दूर रहता है, और जो निर्गुण हैं—गुणातीत हैं—उनके निकट में ही प्रकट होजाता है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा है—

गुणनेतानतीत्यत्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥

पर इस अर्थ में चंग रंग की संगति बिगड़ जाती है।

थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि ।
तुमहूं कान्ह मनौ भये, आज काल के दानि ॥

बड़ी 'शोखी' है। 'दान' कहते हैं नटके ढोलिया को। नट बढ़िया से बढ़िया तमाशा दिखाता है—जान पर खेल कर एक से एक कठिन कला करके दिखाता है पर ढोलिया ढोल पर डंका मारकर बराबर यही कहता रहता है 'कि यह कला भी नहीं बदी, यह भी नहीं बदी।'

भक्त ईश्वर से कहता है कि पहिले तुम थोड़े से गुण पर रीझ जाते थे—झूठमूठ भी किसी के मुँह से तुम्हारा नाम निकल गया तो उसका बेड़ा पार लगा दिया। पर अब हम नाना प्रकार की भक्ति से—अपने में अनेक सद्गुण संपादन करके—तुम्हें रिझाना चाहते हैं, पर तुम नहीं रीझते। मालूम होता है कि तुम भी नट के ढोलिया बन गये हो। हमारी प्रत्येक प्रार्थना, उपासना, भक्ति और सत्कर्म पर 'यह भी नहीं बदा' कह कर उपेक्षा कर रहे हो।

अथवा आज कल के दानी जिस तरह दानपात्र (याचक) में सौ मीन मेख निकाल कर—तुममें यह बात तो अच्छी है, पर इतनी कसर है, इस लिए हमारी सहायता के तुम पात्र नहीं हो, इत्यादि बहाना करके दानपात्र का कोरा टाल देते हैं, ऐसा ही बर्ताव तुम अपने दीन भक्तों के साथ करने लगे हो।

कबको टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय।
तुमहूँ लागी जगत्-गुरु जगनायक जगबाय॥

संसार बड़ा स्वार्थी है। यहाँ कोई दीन दुखी के करुण क्रंदन पर कान नहीं देता। इसी संसार की हवा, मालूम होता है, 'हे जगत गुरु' 'जग नायक' श्याम! तुम्हें भी लग गयी। तभी इतने बेपार हो गये हो।'

साहित्य-कानन

[श्री पुरुषोत्तमदास टंडन]

हिंदी-साहित्य संसार-साहित्य का एक अंग है। वही हमारे समीप और हमारा विहार-स्थल है। चिरपरिचय के कारण उसके अनेक स्थल हमें अति प्रिय हैं, और हमारे जीवन में समय समय पर हमें शीतलता देते रहते हैं। यहाँ सभी प्रकार के चित्र विचित्र वृक्ष हैं और कुछ तो ऐसे हैं कि यदि आप को इस हिंदी के अंश के अतिरिक्त साहित्य बन के अन्य अंशों में घूमने का सौभाग्य हो तो वहाँ भी उनकी तुलना न हो सकेगी। अहह! क्या सुंदर समूह है! एक ओर कबीर, मीरा, दादू, सुंदर दास का बाणी विकास है, पास ही सूर, तुलसी, नंददास हितहरिवंश की पवित्र ध्वनि गूँज रही है। आइये, दिव्य दृष्टि की भिक्षा लेकर थोड़ी देर के लिये तो आइये। देखिये, कितने भक्त-जनों के वृंद इन वाणियों के साथ आनंद से मतवाले होकर नृत्य कर रहे हैं और स्वयं उनके स्वर में स्वर मिला इस दैवी गान को कितना विशाल बना रहे हैं। क्यों! आपको भी कुछ सुनाई पड़ रहा है! ध्यानावस्थित होइये, तभी सुन पड़ेगा। अथवा आपका ध्यान कुछ दूसरे ही स्वरों पर मुग्ध है, जो देव, बिहारी,

मतिराम, सेनापति, पद्माकर, ठाकुर पजनेश के समूह से आ रहे हैं। इन स्वरों में भी अद्भुत आकर्षण है।

बधिक की वीणा के समान हमारे मन-मृग को स्तंभित कर घसीटे लिए जा रहे हैं, किंतु रोकिये! अपने को सँभालिये, अभी दूसरी ओर की दैवी वाणी का आनंद आपने समझा ही नहीं। यदि आप कबीर और सूर के समूहों की ध्वनि में मस्त नहीं हो सकते, तो भी अपने को देव और मतिराम के स्वरों में भुला न दीजिये। इधर भी क्या आपकी दृष्टि पड़ी? देखिये भूषण, लाल और सूदन का कैसा गंभीर रणनाद हो रहा है। क्यों क्या इससे आप भयभीत हो रहे हैं! बहुत दिनों से आप इधर आये ही नहीं। इस नाद में क्या ही आनंद है! वह नाद है तो कर्कश, किंतु इसमें भी अद्भुत आनंद है। मैं देखता हूं आप बारंबार देव और मतिराम ही की ओर झुकते हैं। बहुत पुराना अभ्यास पड़ गया है। आप नें तो इस साहित्य वन में, जान पड़ता है, केवल इन्हीं के स्वरों में आनंद लेना सीखा है। किंतु अभी आप ने इस बन के उत्तुंग गगन स्पर्शी वृक्षों के दर्शन ही नहीं किये अथवा उधर आँख गई भी तो उसकी स्थिति को पहचान ही न सके। अब दूसरी ओर देखिये। रसखान, वृंद, गिरिधर इनकी तो सूक्तियाँ आपको अवश्य रिझा सकती हैं। ओहो! किधर किधर देखें, चारों ओर रंगीलापन माधुर्य और आनंद ही तो दिखाई पड़ता है। हम तो चलते चलते थोड़ी दूर

गये थे। यहाँ तो हमारे पास ही हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण, पूर्ण जी और सत्यनारायण अपनी मस्तानो तान सुना रहे हैं। क्यों थोड़ी देर बैठ क्यों न जायँ।

वाह वाह! यह तो कुछ एक और ही गुल खिल गया। हमारे साथ ही भ्रमण करने वाले मित्रों ने इस साहित्य बन में प्रतिभान्वित हो कैसा मनोहर और ओजस्वी गान आरंभ कर दिया! पूज्य पाठक जी को इस बन का एक उजड़ा हुआ कोना ही पसंद है। वहीं एकांत में बैठे हुए वह भारत गीत से श्रोताओं का मनोविनोद कर रहे हैं। श्रद्धेय अयोध्यासिंह जी हमसे कुछ अलग ही हटकर अपने प्रवासी प्रियतम की खोज में करुणनाद कर हमारे चित्त को विह्वल कर रहे हैं। पास ही शंकरजी अपने डमरू के स्वरों के साथ संसार की जितनी कुरीतियाँ हैं उनको भस्म करने के लिये अपना तीसरा नेत्र खोले नृत्य कर रहे हैं। साधारण आदमी तो उनके पास जाते भयभीत होता है, किंतु पास से देखिये तो इस तेजस्विता में भी सहृदयता और कोमलता है। और भी पास दीनजी सूक्तिसर में लीन हो रहे हैं, और वियोगी हरि जी अपने प्रियतम के वियोग से दुखी करुण स्वर में उनका गान करते अष्ट छाप के कवियों की याद दिलाते हैं। किंतु हैं! यह क्या ध्वनि आई! यह तो बिलकुल विचित्र है। यह तो किसी नयी रागिनी को उत्पत्ति जान पड़ती है। वाह! इसमें तो अधिकतर हमारे निजी मित्रगण ही सम्मिलित

हैं। एक ओर मैथिलीशरणजी भारत-भारती की आरती उतार रहे हैं इसी समूह में दूसरी ओर रामनरेश जी ईश्वर से भारतवर्ष में ऐसे पथिक भेजने की प्रार्थना कर रहे हैं जो केवल अपने सतोगुण से, विना रजोगुण और तमोगुण का सहारा लिये, भारत का उद्धार करें। ईश्वर ने तो अपनी प्रकृति में तीनों गुणों का ही मिश्रण किया है और इस पृथ्वी-स्थल को तो, जान पड़ता है, रजोगुणव्याप्त ही बनाया है। वह त्रिपाठी जी के गान से मोहित हो कहां तक अपने नियमों को बदल देगा, इसका मुझे कौतूहल है। तो भी तान तो अद्भुत ही छेड़ी! इन्हीं मित्रों के पास माखनलालजी भारतीय आत्मा को करुणा और ओज भरी गाथा से और त्रिशूल जी अपने प्रबल शस्त्र का सहारा दे सोई हुई जनता को जगाने का प्रयत्न कर रहे हैं, इसी प्रयत्न में माधव शुक्ल जी भी उनका साथ दे स्वतंत्रता देवी का यश कीर्तन कर रहे हैं। भारतवर्ष के नवयुवक आज इस गान को ध्यान से सुन रहे हैं। किंतु कुछ चुप से हैं। मैं तो ध्यान लगाये आसरा देख रहा हूँ कि वे कब इसी गान के स्वर में स्वयं स्वर मिला इसी शक्ति-शालिनी देवी के उपासक बनेंगे।

यहां का तो विचित्र दृश्य है! इस बन में तो चारों ओर जीवित वाणियाँ हैं। किधर देखें किधर सुनें—यहां तो आनंद से नाचने को जी चाहता है।

किंतु वाह! इस बन के एक अंश पर तो मेरा ध्यान ही

नहीं गया। यहां तो गान करने वालों के अतिरिक्त गंभीर विचारों में लीन, अपने ओजस्वी शब्दों में शिक्षा देने वाले अथवा ब्रह्मांड का अन्वेषण तथा प्राचीन इतिहास का वर्णन करने वाले विद्वज्जन विराजमान हैं। कुछ विद्वज्जन ऐसे भी हैं, जो इस साहित्य बन के गान का आनंद उठाते हुए इसी की कथा औरों को सुना रहे हैं। यहां शिवसिंह सेंगर, लल्लूलाल जी, राजा शिवप्रसाद, बालकृष्ण भट्ट, तोताराम, सुधाकर द्विवेदी, अंबिका-दत्त व्यास, राधाकृष्ण दास आदि प्रतिभाशाली व्याख्याता गंभीर किंतु आनंद-पूर्ण, भाव से उपस्थित हैं। निकट ही श्रद्धेय महावीर प्रसाद द्विवेदी, गोविंद नारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी के दर्शन हो रहे हैं। अहा! द्विवेदी जी किस प्रकार गंभीर शब्दों में सरस्वती का आह्वान कर हिंदी-भाषी युवक-मंडली को उसके दर्शन करने का निमंत्रण दे रहे हैं। और भी पास मिश्रबंधु इस बन के अन्वेषण की कथा सुना लोगों को यहां भ्रमण करने के लिये प्रोत्साहित कर रहे हैं, और मेरे मित्र रामदास गौड़ समस्त ब्रह्मांड के वैज्ञानिक रूप का दिग्दर्शन करा रहे हैं। समीप ही जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, कामता प्रसाद गुरु, अंबिका प्रसाद वाजपेयी इस साहित्य-बन की रचना-शैली पर आश्चर्य के साथ विचार कर रहे हैं। यहीं माधवराव सप्रे, अमृत लाल चक्रवर्ती इस महा-बन के अन्य अंशों का फोटो लिये हुए हिंदी भाषियों को दिखा रहे हैं।

वाह ! यहाँ तो घूमते घूमते श्यामसुंदर दास जी भी आ गये । आपको इस बन के दर्शन मात्र के आनंद से ही तृप्ति नहीं हुई, आप यहां के न केवल इस हिंदी अंश का किंतु अंग्रेजी अंश का भी आलोचन कर ओजस्वी शब्दों में अपने मत की व्याख्या कर रहे हैं ! यह तो आज एक और नया आनंद हुआ ! पद्मसिंह जी यहां आ विराजे । आप तो विहारी पर लट्टू हो रहे हैं । विहारी का इसी बन में गान सुनते सुनते जान पड़ता है, आपको यह भ्रम हो गया कि विहारी की वाणी की शक्ति कुछ क्षीण हो गई । इसलिये आप तुरंत दौड़कर संजीवनी बूटी लेकर आये हैं, और स्वयं भी विहारी की तान पर ताल देकर उसको अधिक रोचक रूप में दर्शाने का प्रयत्न कर रहे हैं । किंतु वाह ! आपने कैसी गूंज डाल दी । लोग तो एक क्षण के लिये इस रागिनी को भी भूल साजिंदे के बाजे को ही सुन रहे हैं । धन्य है वह साजिंदा ! उसका आज सत्कार उचित ही है ।

इस बन का आज दौड़ा-दौड़ में, अणुमात्र को ही सही, दर्शन तो हो गया । बहुत सा माधुर्यपूर्ण कुंजों और बहुत से गंभीर व्याख्याताओं के आश्रमों में तो मेरी आँख भी नहीं गयी । इस भागा-भाग में देख ही क्या सकता था ? यह तो संसारी झंझटों से अच्छा अवकाश मिलने पर ही संतोष के साथ हो सकता था किंतु मुझ ऐसे कीच में पड़े हुए मनुष्य को क्षणमात्र

का भी दर्शन बहुत है। इसके पास आकर चित्त तो यही चाहता है कि यहीं की लता कुंजों में घूमता रहूँ और यहाँ के गंभीर दैवी-गीत तथा शिक्षा-प्रद सदुपदेश सुना करूँ। सब समूहों को देखकर भी बार बार कबीर और दादू, सूर और तुलसी इन्हीं के अलौकिक नाद सुनने को जी चाहता है। मुझे तो उनके ओजस्वी नाद के समान, न केवल बन के इस अंश में किंतु अन्य अंशों में भी जिनका किसी समय में अवलोकन किया है, कोई सुनाई न दिया। और फिर कबीर का तो कहना ही क्या! अन्य कवि तो सांसारिक बातों की चर्चा करते हैं, शब्द चातुरी और स्वकल्पित रस-माधुरी में मुग्ध होते हैं अथवा कुछ ऊपर की कहते हैं तो सुनी सुनाई, किंतु कबीर के नाद को तो सुनते सुनते यह जान पड़ता है कि आँख के देखे हुए रहस्य की कोई वार्ता कर रहा है।

जायसी का वियोग वर्णन

[श्री रामचंद्र शुक्ल]

जायसी का विरह-वर्णन कहीं कहीं अत्यंत अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी मजाक की हद तक नहीं पहुँचने पाया है, उसमें गांभीर्य्य बना हुआ है। इनकी अत्युक्तियां बात की करामात नहीं जान पड़तों, हृदय की अत्यंत तीव्र वेदना के शब्द-संकेत प्रतीत होती हैं। उनके अंतर्गत जिन पदार्थों का उल्लेख होता है वे हृदयस्थ ताप की अनुभूति का आभास देने वाले होते हैं; बाहर बाहर से ताप की मात्रा नापने वाले मानदंड मात्र नहीं। जाड़े के दिनों में भी पड़ोसियों तक पहुँच उन्हें बेचैन करने वाले शरीर पर रखे हुए कमल के पत्तों को भून कर पापड़ बना डालने वाले, बोतल का गुलाबजल सुखा डालने वाले ताप से कम ताप जायसी का नहीं है पर उन्होंने उसके वेदनात्मक और दृश्य अंश पर जितनी दृष्टि रक्खी है उतनी उसकी बाहरी नाप जोख पर नहीं जो प्रायः ऊहात्मक हुआ करती है। नाप जोख वाली ऊहात्मक पद्धति का जायसी ने कुछ ही स्थानों पर प्रयोग किया है। जैसे राजा की प्रेम-पत्रिका के इस वर्णन में—

आखर जरहिं, न काहू छूआ। तब दुख देखि चला लेइ सूआ।

अथवा नागमती के विरह-ताप की इस व्यंजना में—

जेहि पंखी के निकट होइ कहै विरह की बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होहिं निपात॥

इस ऊहात्मक पद्धति का दो चार जगह व्यवहार चाहे जायसी ने किया हो पर अधिकतर विरहताप के वेदनात्मक स्वरूप की अत्यंत विशद व्यंजना ही जायसी की विशेषता है। उन्होंने अत्युक्ति की है और खूब की है पर वह अधिकांश संवेदन के स्वरूप में है, परिमाण-निर्देश के रूप में नहीं है। संवेदन का यह स्वरूप उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा व्यक्त किया गया है। अत्युक्ति या अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा में सिद्ध और साध्य का भेद होता है। उत्प्रेक्षा में अध्यवसान साध्य (संभावना या संवेदना के रूप में) होता है और अत्युक्ति या अतिशयोक्ति में सिद्ध। "धूप ऐसी है कि रखते रखते पानी खौल जाता है" यह वाक्य मात्रा का आधिक्य मात्र सूचित करता है। मात्रा के आधिक्य का निरूपण ऊहा द्वारा कुछ चक्कर के साथ भी हो सकता है, जैसा कि बिहारी ने प्रायः किया है। पर यह पद्धति काव्य के लिए सर्वत्र उपयुक्त नहीं। लाक्षणिक प्रयोगों को लेकर कुछ कवियों ने ऊहा का जो विस्तार किया है वह अस्वाभाविक, नीरस और भद्दा हो गया है। वह "कुल का दीपक है" इस बात को लेकर यदि कोई कहे कि "उसके घर तेल के खर्च की बिलकुल बचत होती है" तो इस उक्ति में कवित्व

की कुछ भी सरसता न पाई जायगी। बिहारी का "पत्रा ही तिथि पाइए" वाला दोहा इसी प्रकार का है। अस्तु, "धूप इतनी है कि रखते रखते पानी खौल जाता है" यह कथन ऊहा द्वारा मात्रा-निरूपण के रूप में हुआ। यही बात यदि इस प्रकार कही जाय कि "धूप क्या है मानो चारों ओर आग बरस रही है" तो यह संवेदन के रूप में कहा जाना होगा। पहले कथन में ताप की मात्रा का आधिक्य व्यंग्य है, दूसरे में उस ताप से उत्पन्न हृदय की वेदना। एक में वस्तु व्यंग्य है दूसरे में संवेदन। पहला वाक्य वाह्य वृत्त का व्यंजक है और दूसरा आभ्यंतर अनुभूति का। मतलब यह कि जायसी ने यह कम कहा है कि विरह ताप इतनी मात्रा का है, यह अधिक कहा है कि ताप हृदय में ऐसा जान पड़ता है, जैसे—

जानहुँ अगिनि के उठहिं पहारा। औ सब लागहिं अंग अँगारा॥
जरत बजागिनि करु पिउ छांहा। आइ बुझाउ अँगारन्ह माँहा॥
लागिउ जरै जरै जस भारू। फिरि फिरि भूजेसि तजिउ न बारू॥

"फिरि फिरि भूँजेसि तजिउँ न बारू" भाड़ की तपती बालू के बीच पड़ा हुआ अनाज का दाना जैसे बार बार भूने जाने पर उछल उछल पड़ता है पर उस बालू से बाहर नहीं जाता, उसी प्रकार इस प्रेम जन्य संताप के अतिरेक से मेरा जी हट हट कर भी उस संताप के सहने की बुरी लत के कारण उसी की ओर प्रवृत्त रहता है। मतलब यह कि वियुक्त प्रिय का ध्यान

आते ही चित्त ताप से विह्वल हो जाता है फिर भी वह बार बार उसीका ध्यान करता रहता है। प्रेम दशा चाहे घोर यंत्रणा-मय हो जाय पर हृदय उस दशा से अलग होना नहीं चाहता। यहाँ इसी विलक्षण स्थिति का चित्रण है। यहाँ हम कवि को वेदना के स्वरूप-विश्लेषण में प्रवृत्त पाते हैं, ताप को मात्रा नापने में नहीं। मात्रा की नाप तो बाहर बाहर से भो हो सकती है, पर प्रेम वेदना के आभ्यंतर स्वरूप को पहचान प्रेमवेदनापूर्ण हृदय में ही हो सकती है। जायसी का ऐसा ही हृदय था। विरह-ताप का वर्णन कवि ने अधिकतर सादृश्य-संबंध-मूलक गौणी लक्षणा द्वारा किया है।

विरह ताप की मात्रा का आधिक्य सूचित करने के लिए जहां कहीं जायसी ने ऊहात्मक या वस्तु-व्यंजनात्मक शैली का अवलंबन किया है वहाँ अधिकतर तीसरे प्रकार का विधान ही देखने में आता है जिसमें ऊहा की आधार-भूत वस्तु का स्वरूप तो सत्य और स्वतः संभवी होता है पर उसके हेतु की कुछ और ही कल्पना की जाती है। इस प्रकार का विधान भी प्रथम प्रकार के विधान से अधिक उपयुक्त होता है। इसमें हेतूत्प्रेक्षा का सहारा लिया जाता है जिसमें 'अप्रस्तुत' वस्तुओं का गृहीत दृश्य वास्तविक होता है, केवल उसका हेतु कल्पित होता है। हेतु परोक्ष हुआ करता है इससे उसकी अतथ्यता सामने आकर प्रतीति में बाधा डालती नहीं जान पड़ती। इस युक्ति

से कवि विरह-ताप के प्रभाव की व्यापकता को बढ़ाता बढ़ाता सृष्टि भर में दिखा देता है। एक उदाहरण काफी होगा—

अस पर जरा विरह कर गठा। मेघ साम भए धूम जो उठा॥
दाढ़ा राहु, केतु गा दाधा। सूरुज जरा, चाँद जरि आधा॥
और सब नखत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं॥
जरै जो धरती ठावहिं ठाऊँ। दहकि पलास जरै तेहि दाऊ॥

इन चौपाइयों में मेघों का श्याम होना, राहु केतु का काला (झुलसा सा) होना, सूर्य्य का तपना, चंद्रमा की कला का खंडित होना, पलास के फूलों का लाल (दहकते अंगारे सा) होना आदि सत्य हैं। वे विरह ताप के कारण ऐसे हैं केवल यह बात कल्पित है।

ताप के अतिरिक्त विरह के और और अंगो का भी विन्यास जायसी ने इसी हृदय-हारिणी और व्यापकत्व-विधायिनी पद्धति पर वाह्य प्रकृति को मूल आभ्यंतर जगत् का प्रतिबिंव सा दिखाते हुए किया है। काम हेतूत्प्रेक्षा से लिया गया है। प्रेम-योगी रत्नसेन के विरह व्यथित हृदय का प्रभाव हम सूर्य्य, चंद्र, बन के पेड़, पक्षी, पत्थर, चट्टान सब में देखते चलते हैं :—

रोंव रोंव वै बान जो फूटे। सूतहि सूत रुहिर मुख छूटे॥
नैनहिं चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भयउ रतनारा॥
सूरुज बूड़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू वन राता॥
भा बसंत, रातीं बनसपती। और राते सब जोगी जती॥

भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू। औ राते तह पंखि पखेरू ॥
राती सती, अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया ॥
इंगुर भा पहार जो भीजा। पै तुम्हार नहिं रोंव पसीजा ॥

इस प्रकार नागमती के आँसुओं से सारी सृष्टि भीजी हुई जान पड़ती है—

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत-आँसु घुंघची बन बोई ॥
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बनवासी। तहँ तहँ होई घुंघचि कै रासी ॥
बूँद बूँद महँ जानहु जोऊ। गुँजा गूँजि करै "पिउ पीऊ" ॥
तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू-बूड़ि उठे होइ राते ॥
राते बिंब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक, फाट हिय गोहूँ ॥

नागमती का विरह-वर्णन हिंदी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। नागमती उपवनों के पेड़ों के नीचे रात रात भर रोती फिरती है। इस दशा में पशु पत्ती, पेड़, पल्लव जो कुछ सामने आता है उसे वह अपना दुखड़ा सुनाती है। वह पुण्य दशा धन्य है जिसमें ये सब अपने सगे लगने लगते हैं और यह जान पड़ने लगता है कि इन्हें दुःख सुनाने से भी जी हल्का होगा। सब जीवों का शिरोमणि मनुष्य और मनुष्यों का अधीश्वर राजा, उसकी पटरानी, जो कभी बड़े बड़े राजाओं और सरदारों की बातों की ओर भी ध्यान न देती थी वह पक्षियों से अपने हृदय की वेदना कह रही है। उनके सामने अपना हृदय खोल रही है। हृदय की इस उदार व्यापक दशा का

कवियों ने केवल प्रेम-दशा के भीतर ही वर्णन किया है, यह बात ध्यान देने योग्य है।

नागमती उपवनों में रोती फिरती है। उसके विलाप से घोंसलों में बैठे हुए पक्षियों को नींद हराम हो गई है—

फिरि फिरि रोव, कोइ नहिं डोला। आधी राति विहंगम बोला॥
तू फिरि फिरि दाहै सब पांखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी॥

और कवियों ने पशु पक्षियों को संबोधन भर करनेका उल्लेख करके बात और आगे नहीं बढ़ाई है जिससे ऊपर से देखने वालों का ध्यान "उन्माद" की दशा ही तक रह जाता है। पर जायसी ने जिस प्रकार मनुष्य के हृदय में पशु-पक्षियों से सहानुभूति प्राप्त करने की संभावना की है, उसी प्रकार पक्षियों के हृदय में सहानुभूति के संचार की भी। उन्होंने सामान्य हृदय-तत्व की सृष्टि-व्यापिनी भावना द्वारा मनुष्य और पशु-पक्षी सब को एक जीवन सूत्र में बद्ध देखा है। राम के प्रश्न का खग, मृग और मधुकर कुछ जवाब नहीं देते हैं। राजा पुरुरवा कोकिला, हँस इत्यादि को पुकारता ही फिरता है पर कोई सहानुभूति प्रकट करता नहीं दिखाई पड़ता (विक्रमोर्वशी अंक ८) पर नागमती की दशा पर एक पक्षी को दया आती है, वह उसके दुःख का कारण पूछता है। नागमती उस पक्षी से कहती है—

चारिउ चक्र उजार भए, कोइ न संदेसा टेक।
कहौं विरह-दुःख आपन, बैठि सुनहु दंड एक॥

इस पर वह पक्षी संदेशा ले जाने को तैयार हो जाता है।

पद्मावती से कहने के लिए नागमती ने जो संदेशा कहा है वह अत्यंत मर्मस्पर्शी है। उसमें मान, गर्व आदि से रहित, सुख भोग की लालसा से अलग अत्यंत नम्र, शीतल और विशुद्ध प्रेम की झलक पाई जाती है—

पद्मावति सों कहेहु विहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम॥
तोहि चैन सुख लहै सरीरा। मो कहँ हिये दुंद दुख पूरा॥
हमहुँ बियाही संग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ, जानु पर जीऊ॥
मोंहि भोग सौं काज न, वारी। सौंह दिस्ट कै चाहन हारी॥

मनुष्य के आश्रित मनुष्य के पाले हुए, पेड़ पौधे किस प्रकार मनुष्य के सुख से सुखी और दुःख से दुखी दिखाई देते हैं, यह दृश्य बड़े कौशल और बड़ी सहृदयता से जायसी ने दिखाया है। नागमती की विरह दशा में उसके बाग बगीचों से उदासी बरस रही थी। पेड़ पौधे सब मुरझाए पड़े थे। उनकी सुध कौन लेता है ? राजा रत्नसेन के चित्तौर लौटते ही—

पलुही नागमती कै वारी। सोने फूल फूलि फुलवारी॥
जावत पंखि रहे सब दाहे। सबै पंखि बोले गहगहे॥

जब पेड़ पौधे सूख रहे थे तब पक्षी भी आश्रय न पाकर ताप से झुलस रहे थे। इस प्रकार नागमती की वियोग-दशा का विस्तार केवल मनुष्य जाति तक ही नहीं, पशु पक्षियों और पेड़ पौधों तक दिखाई पड़ता था। कालिदास ने पाले हुए मृग

और पौधों के प्रति शकुंतला का विरह दिखाकर इसी व्यापक और विशद भाव की व्यंजना की है।

विप्रलंभ शृङ्गार ही 'पद्मावत' में प्रधान है। विरह दशा के वर्णन में जहाँ कवि ने भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है, वहाँ कोई अरुचिकारक वीभत्स दृश्य नहीं आया है। कृशता, ताप, वेदना आदि के वर्णन में भी उन्होंने शृंगार के उपयुक्त वस्तु सामने रखी है केवल उसके स्वरूप में कुछ अंतर दिखा दिया है। जो पद्मिनी स्वभावतः पद्मिनी के समान विकसित रहा करती थी वह सूखकर मुरझाई हुई लगती है।

कँवल सूख पखुरी बेहरानी। गलि गलि कै मिलि छार हेरानी॥

इस रूप में प्रदर्शित व्यक्ति के प्रति सहानुभूति और दया का पूरा अवसर रहता है। पाठक उसकी दशा व्यंजित करने वाली वस्तु की ओर कुछ देर दृष्टि गड़ा कर देख सकते हैं। मुरझाया फूल भी फूल ही है। अतीत और सौंदर्य्य के स्मरण से भाव और उद्दीप्त होता है। पर उसके स्थान पर यदि चीर कर हृदय का खून, नसें और हड्डियाँ आदि दिखाई जांय तो दया होते हुए भी इन वस्तुओं की ओर दृष्टि जमाते न बनेगा।

विरह-दशा के भीतर "निरवलंबता" की अनुभूति रह रह कर विरही को होती है। देखिए, कैसा परिचित और साधारण प्राकृतिक व्यापार सामने रख कर कवि ने इस "निरवलंबता" का गोचर प्रत्यक्षीकरण किया है—

आवा पवन बिछोह कर पात परा बेकरार।
तरिवर तजा जो चूरि कै लागै केहि के डार॥

'लागै केहि के डार' मुहावरा भी बहुत अच्छा आया है।

इसी नागमती के विरह-वर्णन के अंतर्गत वह प्रसिद्ध बारहमासा है जिसमें वेदना का अत्यंत निर्मल और कोमल स्वरूप, हिंदू दाम्पत्य-जीवन का अत्यंत मर्मस्पर्शी माधुर्य्य, अपने चारों ओर की प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों के साथ विशुद्ध भारतीय हृदय की साहचर्य्य-भावना, तथा विषय के अनुरूप भाषा का अत्यंत स्निग्ध, सरल, मृदुल और अकृत्रिम प्रवाह देखने योग्य है। पर इस कुछ विशेषताओं की ओर ध्यान जाने पर भी इस के सौंदर्य्य का बहुत कुछ हेतु अनिर्वचनीय रह जाता है। इस बारहमासे में वर्ष के बारह महीनों का वर्णन विप्रलंभ-शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से है जिसमें आनंदप्रद वस्तुओं का दुःखप्रद होना दिखाया जाता है, जैसा कि मंडन कवि ने कहा है—

जेइ जेइ सुखद, दुःखद अब तेइ तेइ, कवि मंडन बिछुरत जदुपती।

प्रेम में सुख और दुःख दोनों के अनुभूति की मात्रा जिस प्रकार बढ़ जाती है उसी प्रकार अनुभूति के विषयों का विस्तार भी संयोग की अवस्था में जो प्रेम-सृष्टि की सब वस्तुओं से आनंद का संग्रह करता है वही वियोग की दशा में सब वस्तुओं से दुःख का संग्रह करने लगता है। इसी दुःखद रूपमें प्रत्येक मास की उन सामान्य प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का

वर्णन जायसी ने किया है जिनके साहचर्य्य का अनुभव मनुष्य मात्र—राजा से लेकर रंक तक—करते हैं। अतः इस बारहमासे में मुख्यतः दो बातें देखने की हैं—

(१) प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का दिग्दर्शन।

(२) दुःख के नाना रूपों और कारणों को उद्भावना।

प्रथम के संबंध में यह जान लेना चाहिए कि प्राचीन संस्कृत-कवियों का सा संश्लिष्ट विशद चित्रण उद्दीपन की दृष्टि से किए हुए ऋतु वर्णन में नहीं हुआ करता, केवल वस्तुओं और व्यापारों की अलग अलग झलक भर दिखा कर प्रेमी के हृदय की अवस्था की व्यंजना हुआ करती है। परिचित प्राकृतिक-दृश्यों का साहचर्य्य द्वारा और कवियों की वाणी द्वारा जो मर्मस्पर्शी प्रभाव प्राप्त है उसका अनुभव उनकी ओर संकेत करने मात्र से भी सहृदयों को हो जाता है। इस प्रकार बहुत ही सुंदर संकेत—बहुत ही मनोहर झलक—इस बारहमासे में हम पाते हैं, कुछ उदाहरण लीजिए—

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा। मानों विरह, दुंद दल बाजा।
धूम, साम, धौरे घन धाए। सेत धजा बग-पाँति देखाए॥
खड़ग बीजु चमकै चहुँ ओरा। बुंद-बान बरिसहिं चहुँ ओरा॥

❀ ❀ ❀ ❀

बाट असूझ अथाह गंभीरी। जिउ बाउर भा फिरै भँभीरी॥
जग जल बूड जहाँ लगि ताकी। मोरि नाव खेवक विनु थाकी॥

❀ ❀ ❀ ❀

जेठ जरै जग चलै लुवारा। उठहिं बवंडर परहिं अंगारा॥
उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ, मरौं दुख बाँधी॥

अपनी भावुकता का बड़ा भारी परिचय जायसी ने इस बात में दिया है कि रानी नागमती विरह दशा में अपना रानीपन बिलकुल भूल जाती हैं और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप में देखती हैं। इसी सामान्य स्वाभाविक वृत्ति के बल पर उसके विरह-वाक्य छोटे बड़े सबके हृदय को समान रूप से स्पर्श करते हैं। यदि कनक-पर्यंक, मखमली सेज, रत्नजटित अलंकार, संगमरमर के महल, खसखाने इत्यादि की बातें होतीं तो वे जनता के एक बड़े भाग के अनुभव से कुछ दूर की होतीं। पर जायसी ने स्त्री-जाति की या कम से कम हिंदू गृहणी-मात्र की सामान्य स्थिति के भीतर विप्रलंभ शृंगार के अत्यंत समुज्ज्वल रूप का विकास दिखाया है। देखिए चौमासे में स्वामी के न रहने से घर की जो दशा होती है वह किस प्रकार गृहणी के विरह का उद्दीपन करती है—

पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाह मंदिर को छावा।

इसी प्रकार शरीर का रूपक देकर बरसात आने पर साधारण गृहस्थों की चिंता और आयोजना की झलक दिखाई गई है—

तपै लागि अब जेठ असाढ़ी। मोंहि पिउ बिनु छाजनि भइ गाढ़ी॥
तन तिनउर भा, झूरौं खरी। भइ बरखा, दुख आगरि जरी॥
बंध नाहिं औ कंध न कोई। बात न आव कहौं का रोई!॥

साँठि नाठि, जग बात को पूछा । बिनु जिउ फिरै मूंज-तनु छूंछा ॥
भई दुहेली टेक बिहूनी । थांभ नाहि, उठि सकै न थूनी ॥
बरसै मेंह, चुवहिं नैनाहा । छपर छपर होइ रहि बिनु नाहा ॥
कोरौं कहां, ठाठ नव साजा । तुम बिनु कंत न छाजनि छाजा ॥

यह आशिक माशूकों का निर्लज्ज प्रलाप नहीं है, यह हिंदू-गृहिणी की विरह वाणी है। इसका सात्विक मर्यादा-पूर्ण माधुर्य्य परम मनोहर है।

नागमती देखती है कि बहुतों के बिछुड़े हुए प्रिय मित्र आ रहे हैं, पर मेरे प्रिय नहीं आ रहे हैं। इस वैषम्य की भावना उसे और भी व्याकुल करती है। किसी वस्तु के अभाव से दुःखी मनुष्य के हृदय की यह एक अत्यंत स्वाभाविक वृत्ति है। पपीहे का प्रिय पयोधर आ गया, सीप के मुँह में स्वाति की बूंद पड़ गई, पर नागमती का प्रिय न आया।

चित्रा मित्र मीन कर आवा । पपिहा पीउ पुकारत पावा ॥
स्वाति-बूंद चातक मुख परे । समुद सीप मोती सब भरे ॥
सरवर सँवरि हंस चलि आए । सारस कुरलहिं खँजन देखाए ॥

विरह का दुःख ऐसा नहीं कि चारों ओर जो वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं उनसे कुछ जो बहलै। उनसे तो और भी अपनी दशा की ओर बिरही का ध्यान जाता है, और भी उस दशा का दुःसह स्वरूप स्पष्ट होता है चाहे वे उसको दुःख दशा से भिन्न दशा में दिखाई पड़ें, चाहे कुछ सादृश्य लिए हुए। भिन्न भिन्न

ऋतुओं की नाना वस्तुओं और व्यापारों को विरही लोग किस प्रकार सादृश्य-भावना द्वारा अपनी दशा की व्यंजना का सुलभ साधन बनाया करते हैं।

बरसै मघा झकोरि झकोरी। मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी॥
पुरवा लाग भूमि जल पूरी। आक जवास भई तस झूरी॥

सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियरि भूमि कुसुंभी चोला॥
हिय हिंडोल अस डोलै मोरा। विरह झुलाइ देइ झकझोरा॥

तन जस पियर पात भा मोरा। तेहि पर विरह देइ झकझोरा॥

विरहिणी की इस सादृश्य-भावना का वर्णन कवि-परंपरा-सिद्ध है। सूरदास का "निसिदिन बरसत नैन हमारे" यह पद प्रसिद्ध है। और कवियों ने भी ऋतु-सुलभ-वस्तुओं और व्यापारों के साथ विरहिणी के तन और मन की दशा का सादृश्य वर्णन किया है। यह सादृश्य-कथन अत्यंत स्वाभाविक होता है। क्योंकि इसमें उपमान ऊहा द्वारा सोचकर निकाला हुआ नहीं होता बल्कि सामने प्रस्तुत रहता है, और प्रस्तुत रहकर उपमेय की ओर ध्यान ले जाता है। वैशाख में विरहिणी एक ओर सूखते तालों की दरारों को देखती है दूसरी ओर विदीर्ण होते हुए अपने हृदय को। बरसात में वह एक ओर तो टपकती हुई ओलती देखती है दूसरी ओर अपने आसुओं की धारा।

एक ओर सूखे हुए "आक जवास" को देखती है दूसरी ओर अपने शरीर को। शिशिर में एक ओर सूखकर झड़े हुए पीले पत्तों को देखती है, दूसरी ओर अपनी पीली पड़ी देह को! अतः उक्त उपमाएँ "दूर की सूझ" नहीं है। उनमें सादृश्य बहुत सोचा-विचारा हुआ नहीं है, उसका उदय विरह-विह्वल अंतःकरण में बिना प्रयास हुआ है। दो उपस्थित वस्तुओं में सादृश्य की ऐसी स्वाभाविक भावना संस्कृत कवियों ने बहुत अच्छी की है। कालिदास का यह श्लोक ही लीजिए—

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं ।
धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां ।
लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् (२-२९)

इस बारहमासे में हृदय के वेग की व्यंजना अत्यंत स्वाभाविक रीति से होती हुई भी भाव अत्यंत उत्कर्ष दशा को पहुंचे हुए दिखाए गए हैं। देखिए, अभिलाप का यहाँ कैसा उत्कर्ष है—

राति दिवस बस यह जिउ मोरे ।
लगौं निहोर कंत अब तोरे ॥
यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाव ।
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरै जहँ पांव ॥

श्रीराम और सीता का प्रथम साक्षात्कार

[श्री राजबहादुर लमगोड़ा]

सीता पर राम लक्ष्मण के दर्शन का जो प्रभाव पड़ा है, वह ठीक वैसा है जैसा एक भोली-भाली राजकुमारी पर होना चाहिए। उसका हृदय भी उसी के सदृश भोला-भाला है। भला अभी उसमें राम के खयाल को उड़ान कहाँ? अभी तो उसकी आँखें प्रथम दर्शन के साथ ही झेंप गई होंगी। अभी लज्जा ने उस निर्भीकता को आने नहीं दिया जिससे रामचंद्र के 'विलोचन चारु अचंचल' हो गए और जिससे अभी तनिक देर पीछे (पर अभी नहीं) स्वयं सीता जी के नेत्रों की भी वही दशा होगी जिसे कवि ने यों वर्णन किया है।

थके नयन रघुपति छबि देखी। पलकन हूँ परिहरी निमेखी॥

अभी सुखपावा का अनुभव भी तो न था। न जाने क्या अनुभव था; बेचारी भोली-भाली राजकुमारी क्या जाने? परंतु, प्रभाव यद्यपि अप्रत्यक्ष है फिर भी स्थायी है। राम जी तो अपनी दशा का अनुभव कर लक्ष्मण से बातें करते हुए चल भी दिए और यहाँ वही एक प्रकार-के-रुकने-की हालत बनी हुई है। हाँ, राम जी के हटते ही किसी चीज के खो जाने

का सा अनुभव आरंभ हुआ और अब पहले पहल वस्तुतः उस अमूल्य वस्तु के खोते ही हैरानी शुरू हुई। इसीको तो काव्य शैली में 'कुछ खोकर सीखना' कहते हैं। अस्थायी वियोग का यही तो आनंद है। बिना उस वियोग के प्रेमिका की कद्र भी नहीं होती। इन्हीं रुकावटों से प्रेम-स्रोत का प्रभाव एवं वेग बढ़ता जाता है। इसी 'आँख मिचौनी' के तमाशे और तत्पश्चात् राजाओं की पारस्परिक वार्ता और फिर परशुराम के निराशा जन्य क्रोध की रुकावटों से प्रेम में ऐसी शीघ्रता के साथ परिपक्वता उत्पन्न कर दी गई है कि तीन ही दिवस के अंदर वह प्रेम-पूर्णता की अवस्था में पहुँच गया है।

चितवत चकित चहूँ दिशि सीता। कहँ गये नृप किसोर मन चीता॥

'चितवत चकित चहूँ दिशि' का 'च' का अनुप्रास कैसा अच्छा है। तनिक देर के लिए तो ऐसा जान पड़ता है मानों 'चितवत' और 'चकित' होने के लिए ही बनी है। (यह ठीक भी है। चितवत उसी को कहते हैं जिसमें शीघ्र शीघ्र किंचित् परिवर्तन होता रहता है। दृष्टि का अधिक ठहराव हुआ और 'चितवत' अदृश्य हो गई।)

[१] 'चितवत' (अ) इसमें ऐसी क्रियायुक्त बनावट है जिसमें कृत्रिमता का लेश भी नहीं, प्रत्युत एक अल्प-वयस्का राजकुमारी (जो अभी राजकुमारी के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं होती। क्योंकि 'शक्ति' वा 'जगत जननी' का जहाँ

प्रयोग-बाहुल्य हुआ, कि शृंगार रस पूर्णतः जाता रहा।) चकित दशा में सामने है।

(ब) परंतु शब्द योजना के विचार से 'मन' और 'चित्त' ऐसा मजा दे जाते हैं जिसे दिल जानता है, पर जबान नहीं कह सकती।

[२] 'चकित' (अ) इसमें हृदय को इस हैरानी के सिवा कि राजकुमार किधर गए नेत्रों के चारों ओर फिराने का चित्र भी है। कारण 'चकित' वस्तुतः 'चाक्रत' का लघुरूप है, जिसके अर्थ हैं 'गोल' 'वा चारों ओर'।

(ब) कैसा छोटा-सा शब्द है। अभी एक राजकुमारी ने दो मनोमोहक मूर्त्तियों को सौंदर्यानुभव (Aesthetic faculty) के विचार से अवलोकन किया है और फिर वे मूर्तियाँ आँखों की ओट हो गईं। राजकुमारी हैरान (चकित) है कि ये दिल चुराने वाली सूरतें किधर गईं। और इसीलिए तो अभी युगल राजकुमारों का प्रभाव सीता पर है। वास्तविक प्रेम का प्रारंभ होते ही दो में से एक ही रह जायगा। सहृदय पाठक! देखा आपने द्वैत तथा अद्वैत के विश्लेषण को ? द्वैत तो केवल सौंदर्यानुभव तक परिमित है और प्रेम में अद्वैत के अतिरिक्त कुछ नहीं। यह तुलसीदास प्रभृति महाकवि का ही काम है कि इन सूक्ष्म बातों का खयाल रक्खें और उन्हें क्रम से दिखलाते जायँ।

एक बार मेरे एक मित्र ने उपर्युक्त व्याख्या पर आक्षेप करते

हुए कहा था। कि "दोनों राजकुमारों के ख्याल को क्यों लाते हो ? गए, क्रिया को सम्मानार्थ समझो बहुवचन नहीं। फिर प्रेमिका के प्रति सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग समीचीन ही है।" मुझे कुछ संदेह अवश्य हुआ। पर दूसरी ही चौपाई में 'श्यामल गौर' दोनों साफ मौजूद हैं, अतः ये संदेहनिवृत्ति के लिए काफी थे। फिर एक चौपाई के बाद 'थके नयन रघुपति छवि देखी' को पढ़ते हृदय स्पंदित होकर सहसा बोल उठा कि इस स्थान से ही प्रेम का अंतर-सूचक अनुभव शुरू हुआ है।

[३] 'चहुँदिसि'—पहले जब रामजी की खोज थी तब 'सकल दिसि' के शब्द प्रयुक्त हुए थे। कारण, भय था कि कहीं विष्णु (परमात्मा) के अवतार आकाश पर न उड़ गए हों, या पाताल को न चले गए हों। पर अब आँखें उन्हें देख चुकी हैं। दिल को कम-से-कम इतना ढाढ़स है कि चारों ओर ही दृष्टि दौड़ती है। मानों वह कहता है कि हैं 'वे' इसी लोक में, आँखों की ओट भले ही हों। किसी पेड़-पौदे या बेल-बूटे की आड़ में होंगे। पर हाय, हैं कहाँ ? नजर को हैरानी, दिल को हैरानी है! निराकार से साकार होकर भी यह परदा क्यों है ?

पर पाठकगण, तनिक ठहरिए। अभी इतनी आध्यात्मिक उड़ान पर न जाइए। वह तो मैंने केवल संकेत की रीति पर बतलाया है कि शृंगार में भी तुलसीजी आध्यात्मिक कल्पना को सदैव अप्रकटतः स्थिर रखते हैं। अस्तु, साधारण शृंगार

के विचार से साधारण बात हो काफी है। पहले देखा न था—इस कारण नजर अधिक छान-बीन करती हुई हर तरफ ('सकल दिसि') दौड़ती थी। अब देख चुकी, इस कारण खोज में किंचित् कमी है। विश्वास है कि हैं यहीं। अतः 'चहूं दिसि' का परिमिति शब्द पर्याप्त है।

[४] 'सीता'—ठीक है। इस समय जिस शृंगारी अवस्था में सोताजी—राजकुमारी सीता हैं उसमें अप्रकट प्रभाव चाहे कुछ हो, परंतु प्रकट रीति पर वह विदेहकुमारी नहीं हैं। प्रत्युत मिट्टी-पानी की एक जीवित मूर्ति हैं जो मानवी विचारों से ओत-प्रोत हैं। देखिए, 'सकल दिसि' और 'चहूँ दिसि' में एक अंतर-सूचक कारण यह भी है। जिस समय 'सकल दिसि' लिखा गया था उस समय नारद की भविष्य वाणी के स्मरण होने के कारण अध्यात्मिक व्यक्तित्व का विचार विद्यमान था। और अब शृंगार की आनंदमयो गहराई में उस विचार का प्रभाव है। अतः स्वाभाविकतया 'सकल दिसि' संकुचित होकर 'चहूँ दिसि' रह गया।

[५] 'कहँ गए नृपकिसोर मन चीता'—आह, यह प्रश्न भी 'सकल दिसि' वाली खोज में न था। वहाँ तो एक नन्हीं हिरनी के निर्बल हृदय की-सी व्यग्रता थी, जिसमें अभी किसी प्रश्न का आविर्भाव न हुआ था। प्रश्न के लिए तो किंचित शांति की आवश्यकता है। पर यह स्मरण रहे कि यहाँ भी

प्रश्न जिह्वा पर नहीं है, प्रत्युत हृदय में निहित है। अलबत्ता चितवन की खोज अवश्य ही हृदयगत भावों की व्याख्या कर रही है।

इस संपूर्ण दृश्य में विशेषणात्मक संज्ञाओं का परिवर्तन विचारणीय है। अभी जब सखियों में पारस्परिक वार्ता हो रही थी तब एक सखी ने राम को 'नृप सुत' कहा था। उस समय वह नाम इस कारण उपयुक्त था कि वह सखी कुछ अधिक शांत प्रतीत होती थी। उसे जिस बात ने प्रथमतः प्रभावित किया था वह मुनि जी के साथ होने के कारण राम की आचारी शिक्षा थी। तत्पश्चात् द्वितीय चौपाई में उसपर शृंगार का प्रभाव पड़ा था। अब चूंकि सीता सर्वथा शृंगार की आनंदमयी मंजिल में हैं, अतः 'किसोर' शब्द अत्यंत समीचीन तथा सरस प्रतीत होता है। 'सुत' एक साधारण शब्द है जिसमें कौमार्य वा युवावस्था की विशेषता नहीं है।

पहली सखी ने भी 'वय' और 'किसोर' ही बतलाया था, पर 'वय' और किसोर' का अंतर कायम रक्खा था। फिर यहां केवल 'किसोर' क्यों है ? धन्य तुलसीदास जी ! कौन नहीं जानता कि शृंगारी दृष्टि में आयु घटती है, बढ़ती नहीं ? किशोरी जी ने दोनों राजकुमारों को किशोर ही देखा तो क्या आश्चर्य ? कौन नहीं जानता कि 'बारी उमरिया' के साथ कितने शृंगारी गीत गाए जाते हैं ? एक उर्दू कवि ने भी खूब कहा है—

वह जो कमसिन हैं, अदायें हैं निराली उनकी
इस पै मचले हैं कि हम दर्दे-जिगर देखेंगे।

और यह भी दोनों राजकुमार दिल चुरा कर नजर से ओझल हैं। वफा दर्दे-जिगर देखना अभीष्ट है? नहीं-नहीं। यहाँ वैसा शृंगार नहीं जिसमें जान-बूझ कर सदाचार से बाहर वाली छेड़ छाड़ हो। रामजी भाई से बात चीत करते हुये उपर्युक्त सीमा के विचार से विवशतः हट गए हैं। अगर कुछ दर्दे-जिगर (शब्द कटु है) है भी, तो उतना ही आकस्मिक और स्वाभाविक जिसे न देखना मंजूर, न दिखलाना। आकस्मिक क्रियाओं का भाव भी अधिक सूक्ष्म है, पर कुछ वैसा ही।

मनचीता—पं० रामेश्वर भट्ट ने पहले 'चीता' का अर्थ 'चाहे गये' किया है, पर अंततोगत्वा नोट में यह लिख दिया है कि 'चीता' 'चिंता' का अपभ्रंश भी हो सकता है और यह अर्थ हो सकता है कि दिल में हैरानी पैदा करने वाले राजकुमार कहाँ गए? मेरे विचार में दूसरा अर्थ अधिक समीचीन है। क्योंकि उस समय 'चकित' के साथ यही भाव अधिक स्पष्ट है। फिर 'चाहे गए' में लक्ष्मण कैसे शामिल हो सकते हैं?

'चीता' का अनुप्रास अन्य शब्दों के साथ कितना सुंदर है। मानो वे सभी शब्द 'चितवत चकित चहूं दिसि' इस '(मन) चीता' के लिए ही बने हैं। शब्द योजना भी पहले दो और अंतिम शब्द में बहुत ही सरस है। तनिक देर के लिए यमकालंकार

का भ्रम उत्पन्न कर मानों 'चितवत' को 'चीता' की 'चित' से ही व्युत्पत्ति प्रतीत होने लगती है।

भट्ट जी ने व्याकुलता के तीन कारण लिखे हैं। (१) 'कहाँ गए ?' की स्वाभाविक व्याकुलता, (२) सखियों से भेद छिपाने की व्याकुलता और (३) राजा के प्रण की व्याकुलता। पर अंतिम व्याकुलता के कारण का राजकुमारों से कोई सीधा संबंध नहीं है। इससे यहाँ इस व्याकुलता का प्रयोजन स्पष्ट नहीं जान पड़ता; यद्यपि गौण रूप से तो व्याकुलता के अनेक कारण हो सकते हैं। अतः इस समय सामयिकता एवं प्रेम-स्फुटन की आकस्मिकता के विचार से पहला ही कारण बहुत ठीक है।

यहां एक विशेष सौंदर्य भी है। व्याकुलता के प्रकट एवं अप्रकट कारण सीता के हृदय में इतनी देर तक कायम रहे कि अंततः अपने हृदयस्थ-व्याकुलता को अनोखे और अछूते शृंगारी ढंग पर अपने प्रेम पात्र का विशेषण बना कर ही छोड़ती है।

मन—उभयपक्ष के विचार से शृंगार के सभी प्रभाव मन तक ही महदूद रक्खे गए हैं। अगर मन से गुजर कर बुद्धि तक पहुँच होती तो नैतिक बंधनों का अस्तित्व ही न रह जाता। तब क्या आश्चर्य था कि आत्मा का नितांत पतन ही होकर रहता ! विषाक्त सांसारिक प्रेम के प्रभाव से प्रायः ऐसा हुआ भी करता है।

चीता—आह, तुलसी की-सी विश्लेषणात्मक बुद्धि मुझ में कहाँ ? पाठकवर्ग, मेरी बेपरवाही तो आपने देखी कि मैं बराबर

अपनी व्याख्या में 'दिल' के साथ, 'चुराने' का शब्द ही प्रयुक्त करता चला आया हूँ। दिल को चुरा लेना और विशेषतः सीता जैसी पवित्र कन्या के दिल को चुरा लेना कोई साधारण बात नहीं है। यह साधारण शृंगार को कविता नहीं है कि 'जिसको देखा उसी पर मरने लगे।' एक हिंदी कवि ने भी आवेश में आकर सीता के मुख से धनुषयज्ञ में ऐसा कहला दिया है कि 'मैं' तो राम को ही व्याहूंगो, धनुष टूटे तो क्या और न टूटे तो क्या? पर सीता ऐसी कच्ची मिट्टी की बनी मूर्ति नहीं है कि तनिक ठेस से टूट जाय। यद्यपि नारद को भविष्य वाणी के स्मरण से प्रेमोत्पत्ति हो चुकी है, और इस कारण चिंता भी स्वाभाविक ही है, पर क्या मजाल कि दिल हाथ से निकल जाय! व्याकुलता की पराकाष्ठा की दशा में भी तुलसीदास ने सीता से जो शब्द कहलाए हैं वे ये हैं कि महाराज जनक की सभा में बुद्धिमानों के होते हुए भी यह अंधेर हो रहा है। वह तो व्याकुलता की दशा में निर्जीव धनुष से विनय करने तक के लिए उद्यत हो जाती है, पर ऐसे विचार का लेश भी नहीं कि पिता का प्रण निभे वा न निभे परंतु मेरी कामनाओं को पूर्ति अवश्य हो। यह है हिंदू रमणियों की सहृदयता जो पति से एक बार संयुक्त होने पर फिर उस से आयु पर्यंत वियुक्त होना नहीं चाहतीं, प्रत्युत मरण के पश्चात् भी अपना संबंध सुस्थिर रखने की अभिलाषा रखती हैं।

जहँ बिलोक मृग-सावक नयनी, जनु तहँ बरस कमल-सित स्रेनी।

यह चौपाई भी काव्यकला का एक चमत्कार है। कैसी दो-रुखी तस्वीर है। वस्तुतः ऐसा सूक्ष्म और सुंदर चित्रण तुलसीदास ही कर सकते हैं। देखिए, 'चकित चितवन' में सिर्फ दिल की बेचैनी नहीं है, बल्कि कुछ लुत्फ भी है। करुणा में भी रस होता ही है। अस्तु—

मैंने उपर्युक्त चौपाई में दो रुख का होना कहा है। जो रुख मुझे अधिक पसंद है, पहले उसी की व्याख्या करता हूँ। जिस समय पहले पहल सीता और राम की आँखें चार हुई थीं, तो इसके पूर्व कि सीता की आँखें लज्जा से झुक गई हों और वह स्वयं निस्तब्धता की दशा में होकर राम की आँखों के लिए 'सिय मुख ससि भये नयन चकोरा' हो गई हों, राम की आँखें उनकी आँखों में बस गई होंगी—जरूर बस गई होंगी। जब वह निस्तब्धता तनिक दूर हुई और आँखों में खोज की चंचलता पैदा हुई, तो वही राम की श्वेत कमल-जैसी आँखें चारों तरफ दिखाई देती हैं। मानो जिधर नजर उठती है वहीं श्वेत कमलों की वर्षा-सी होती दिख रहा है। यह नितांत स्वाभाविक भी है। किसी चीज के आँख में समा जाने के बाद अगर आप आँखों को अन्यत्र फेरें भी तो कुछ उसी आकार के गोल टुकड़े हर तरफ उड़ते हुए नजर आते हैं। फिर इतने प्रबल प्रताप का होना तो इस बात से विदित ही है कि आँखें 'नृप किसोर मन चोता' की ही खोज कर रही हैं।

कैसी सुंदर काव्य कल्पना है। राम की आँखों का श्वेतकमल की माला बनकर चारों ओर बरसना कविताजन्य अमृत की वर्षा से कम नहीं है।

स्मरण रहे कि हिंदी कविता के विचार से प्रेमिका की आँख में तीन रंग अनेक अनेक प्रभावों के साथ होते हैं। श्वेतरंग का प्रभाव है अमृत अर्थात् जीवन का, लालरंग का प्रभाव है मदिरा अर्थात् मस्ती का, और सिर्फ श्याम रंग का प्रभाव है विष अर्थात् मृत्यु का। कैसा सुंदर संकेत है कि केवल अमृत वाले अंश का प्रभाव सीता पर है। और फलतः वह प्रेम, जो सीता में है, उनके अमरत्व का कारण है। दूसरी बात यह भी है कि अभी जिस समय सीता जी ने राम जी को देखा है, तब वह प्रेम के प्रभाव से सुर्ख भी न हुई थीं। क्योंकि दृष्टि पड़ते ही तो सीता की आँखें लज्जा से झुक गई होंगी। नेत्र रूपी 'कैमरे' में जो प्रतिबिंब पड़ा है उसमें अभी आँखों के लाल डोरे नहीं थे। हाँ, तनिक देर बाद ऐसा हुआ था। क्योंकि तनिक ही आगे चलकर कुंज से निकलने के पश्चात् का जो रूपक बाँधा गया है उसमें रामकी आँखों के लिए लिखा है 'नव सरोज लोचन रतनारे', इन प्रेम के सूक्ष्म प्रभावों तथा अनेक अंतरात्मक श्रेणियों का क्रम से रखना तुलसीदास की कविता का कमाल है। किसी शृंगारी उड़ान में कल्पना के एक अंश को आकाश पर पहुंचा देना उससे सहल है कि संपूर्ण श्रेणियाँ

अपनी संपूर्ण सूक्ष्मताओं के साथ क्रम से दिखलाई जावें।

आह, अगर समूचा चित्र खिंच गया होता तो खोज बंद हो जाती। जैसा कि आगे जब सीता जी ने महाराज रामचंद्र को आँख भर कर देख लिया तो आँखें बंद कर लीं, और ऐसी ध्यान-मग्ना हो गईं कि नेत्रों का खुलाना सखियों के लिए भी एक मुश्किल बात बन गई। इसी कारण तो तुलसीदास ने सीता की आँखों में केवल प्रेमपात्र की आँखों का चित्र बनाया है कि खोज की लालसा-पूर्ण मंजिल में कुछ अधिक सरसता आजावे। फिर शृंगार में 'आँख लड़ना' पारस्परिक दर्शन का पहला दर्जा समझा जाता है। न जाने आँख को आँख के लिए कैसा चुंबकीय आकर्षण होता है। मित्रवर 'सेहर' अपनी मसनवी शकुंतला में कहते हैं—

किसी दुश्मनेजाँ से लड़ गई आँख, काबू में जो अब नहीं रही आँख।
हैराँ जो किसी के हुस्न से है, वा होके बनी है आरसी आँख।

कुछ वैसा ही आँख लड़ने का दृश्य यहाँ भी है। अगर 'दुश्मने जाँ' नहीं प्रत्युत अधिक-से-अधिक 'मन चीता' से आँख लड़ी है। आँख यहाँ भी काबू में नहीं है। बल्कि तलाश में फिर रही है और देर बाद जब प्रेमपात्र को देखने का कार्य पूर्ण हो जायगा—तो सीता की आँखें भी हैरानी से वा होके (खुलके) 'आरसी बनेंगी'—'पलकन हूँ परिहरिय निमेषी'। कविवर बिहारीलाल का भी यह एक प्रसिद्ध दोहा है—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भवन में करत हैं, नयनन ही सों बात॥

जिसमें कुशल कवि ने केवल आँखों के संकेतों से अनेक भावों को प्रकट करते हुए प्रेमिक-प्रेमिका की वार्ता दिखलाई है, और लोगों की मौजूदगी में लज्जा को कायम रखते हुए वार्ता के एक अत्यंत सुंदर दृश्य को 'गागर में सागर भरते हुए' बाँधा है।

तुलसीदास जी भी पहले आँखों का ही आकर्षण दिखलाते हैं। पर नीति के विचार से आँखों का लड़ना और उनका सांकेतिक वार्तालाप नहीं दिखाते, जिनका केवल धनुषयज्ञ में उल्लेख है—

प्रभुहि चितै पुनि चितव महि, राजत लोचन लोल।

और इसके पश्चात् रामजी के लिए भी लिखा है—

देखी बिपुल विकल बैदेही, निमिष बिहात कलप सम तेही।
अस जिय जानि जानकी देखी, प्रभु पुलके लखि प्रीति विसेखी॥

किंतु वहाँ भी आँख मिचौनी का दृश्य दिखलाते हुए उनके नेत्रों को पारस्परिक बार्तालाप से पृथक ही रक्खा है। हाँ, जब सहसा आँखें लड़ ही जायँ, तो दूसरी बात है। अन्यथा विचार पूर्वक जब एक देखता है तो दूसरे की दृष्टि अन्यत्र ही होती है। यही बात आदि से अंत तक कायम रक्खी गई है।

अब दूसरा रुख यह है कि पहले चौपाई में कवि ने सीता की हैरानी और उनकी 'चकित चितवन' का चित्र खींचा था। अब उसी चित्र में मानों शृंगार का रंग भरा जा रहा है। मनोहर राजकन्या की दृष्टि शीघ्रता से चारों ओर तलाश में दौड़ रही है और साथ ही उसकी अल्पवयस्का मृगी की सी आँखें भी उसी प्रकार चंचल हैं। फिर, क्योंकि उनका रंग श्वेत कमल के सदृश है अतः ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ जहाँ देखती है वहाँ वहाँ श्वेत कमल की वर्षा हो रही है। यदि आप किसी लट्टू को तेजी से घुमावें तो दो बातें अवश्य देखेंगे। एक तो सिर्फ जो रंग विशेषतः अधिक है, वही नजर में रह जायगा। दूसरे लट्टू पृथक न जान पड़ेगा, प्रत्युत लट्टू की एक माला सी चारों ओर घूमती नजर आवेगी। ठीक वही बातें तुलसीदास जी यहाँ दिखलाना चाहते हैं। इसी लिए कमल की श्रेणी बाँधा है और उधर केवल श्वेत कमल के रंग से उपमा दी है।

श्वेत रंग की उपमा से मानों इस रुख में सीता जी के अंदर अभी केवल सौंदर्यानुभव के अमृतजन्य माधुर्य को दिखलाया है, वा अधिक से अधिक गौण रीति पर प्रेम का ही वैसा माधुर्य समझिए। अभी यहां भी लाल रंग के डोरे नहीं हैं अर्थात् प्रेम की मादकता का पता नहीं है। फिर मेरे विचार में तो यह लाल रंग वाली मादकता सीता के संबंध से धनुषयज्ञ

में भी नहीं दिखलाई गई। क्योंकि वहां भी धनुषयज्ञ से पहले जो अंतिम चित्र सीता का खींचा गया है, उसमें आँखों को दो मछलियों की तरह सीता के 'मुख रूपी चंद्र' में खेलती हुई बांधा है। यह अंतर भी विचारणीय है। राम जी पुरुष हैं। उनका प्रेम शीघ्र उत्पन्न होता है और उसमें मादकता का होना भी संभव है। पर सीता जी प्रभृति पवित्र एवं सरलमना राजकन्या में प्रेम को सिर्फ हैरानी की बेबसी तक सीमित रक्खा गया है विदेह की कन्या के लिए स्वाभाविकतया इसी कदर ठीक भी है। यदि निमग्नता है तो भी अमृत की, मदिरा की नहीं। इस शृंगार की रंगामेजी में (रंगामेजी तो दोनों रुखों में है) प्रत्येक वस्तु का रंग ही दूसरा हो गया है। 'चितवनि से विलोकि में कैसी सुंदर उन्नति है। सीता अब 'मृग-सावक-नयनी' बन गई है। तनिक विचारपूर्वक ध्वन्यात्मक रचना कर आनंद उठाइए। ऐसे स्वर ('र' की आवृत्ति के साथ) प्रयुक्त हुए कि चख के चक्र और कमल के क्रम का ध्वन्यात्मक मानचित्र भी स्वतः उपस्थित हो जाता है।

मैं नहीं कह सकता कि वस्तुतः तुलसी जी की दृष्टि इन दोनों रुखों में से किस पर थी। पर मुझे पहला रुख इस कारण अधिक रुचिकर प्रतीत होता है कि तद्द्वारा सीता जी की आँखों के चित्र के साथ उनमें बसी हुई आंखों का चित्र भी सामने आ जाता है। मानों शृंगार की 'दो आतशी शराब' तैयार हो जाती

है। इसके रुख में तो सिर्फ एक रुखी तसवीर ही रहती है। इसके अतिरिक्त यह कि हम राम को (जिनकी खोज में सीता जी व्याकुल हैं) तलाश करने की जगह केवल सीता जी के सुंदर एवं चकित चित्र के देखने में ही संलग्न हो जाते हैं जो कवि का तात्कालिक प्रयोजन नहीं हो सकता। फिर कौन जाने कि तुलसीदास की विस्तृत दृष्टि दोनों रुखों पर साथ-साथ रही हो कि सीता जी तो राम की खोज में और उनकी आँखों में राम की आंखें बसी हुई, और हम सीता जी के दर्शन में व्यस्त और हमारी दृष्टि में सीता के नेत्र रूपी श्वेत कमल की माला फिरती हुई। पर यहाँ मुझे यह भी कहना है कि सीता जगत्-जननी है और इस कारण तुलसी जी उनके किसी अवयव विशेष पर हमारी दृष्टि को इतनी देर तक नहीं ठहराना चाहेंगे। यही कारण है कि सीता जी का सर्वांग चित्रण रामायण भर में कहीं नहीं है। केवल वनोवास में राम जी के मुख से कुछ कहलाया है, पर वह भी उपमाओं के रूप में। इससे मुझे निश्चय है कि तुलसी दास जी ने यह चौपाई पहले रुख को दृष्टि में रखते हुए लिखी है।

'श' 'स' 'ल' के माधुर्य का ध्वन्यात्मक रूप भी कैसा मनोहर है। ये चौपाइयां माधुर्य गुण की अनोखी मिसालें हैं।

'बरस' का शब्द है कि अमृत की वास्तविक वर्षा है।

'जनु' शब्द से उपमा का पुनः प्रारंभ होता है। इसी

कारण तो उसे संपूर्णतः उत्पन्न करने में विचारशक्ति को एक सुंदर सीमा तक प्रयत्न करना पड़ता है।

'शावक' के साथ सीता के भोलेपन की याद दिलाकर कैसी पवित्रता पैदा की गई है। आँखें भी सुंदर सरसता का संचार कर रही हैं।

लता ओट तब सखिन लखाए, स्यामल गौर किसोर सुहाए।

स्मरण रहे कि सीता जी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। उनके नेत्रों की व्याकुलता से ही सखियाँ उनके दिल का हाल जान लेती हैं। 'कहँ गए नृप किसोर मन चीता'—ये शब्द भी अधिक-से-अधिक सीता जी की हृदय रूपी जिह्वा के ही हैं। नहीं, नहीं, प्रत्युत कवि ने उनकी व्याकुल चितवन की व्याख्या की है। यदि आप इन शब्दों को सीता की हृदय रूपी जिह्वा के शब्द भी मानें, तो भी राम और सीता की हृदय रूपी जिह्वा के विवरणों की तुलना एक सरस साहित्यिक समस्या है। एक ओर काव्य कल्पना और हार्दिक अनुभव के साथ प्रेमिका के रूप गुण की सुंदर व्याख्या तथा उनके अद्वितीय होने की स्वीकृति, और दूसरी ओर केवल थोड़े शब्दों में नन्हें दिल की व्याकुलता का दृश्य। एक ओर भ्राता से सुस्पष्ट वार्ता और दूसरी ओर शब्दों का जिह्वा पर आना मुश्किल ! एक ओर अपनी प्रकृतियों एवं क्रियाओं की स्वकीय व्याख्या और दूसरी ओर शब्दों की जगह केवल दशा के हृदयस्थ भावों का

आकस्मिक प्रकटीकरण। एक ओर कुछ-न-कुछ स्वाधिकार और दूसरी ओर भावावेश में थोड़ी देर के लिए कठपुतली-सी बनकर सखियों के संकेतों पर चलना और उन्हीं के कथन से अपने भावों को समझना। फिर पैरों की गति का भी बंद हो जाना, निस्तब्धता की दशा पर नेत्रों में व्याकुलतामयी चंचलता का शेष रहना इत्यादि, इत्यादि।

सखियां तुरंत ताड़ जाती हैं कि खोज किसकी है। परेशां निगाहें किधर दौड़ रही हैं। कवि राजकुमारों को वेल बूटों में छिपा देता है कि हैरानी और बढ़े, खोज में भावावेश उत्पन्न हो, हृदय में प्रेम को परिपक्वता मिले और रंगमंच पर आँख मिचौनी का दृश्य दिखाई दे। पाठकों का दिल बार बार यह देखकर कितना लुत्फ उठा रहा है कि देखो वह उसी ओर सीता की नजर गई, अब राम अवश्य दिखलाई पड़ेंगे। पर कदाचित् भावावेश के कारण व्याकुल दृष्टि चूक जाती है कि राम उसी बेल के पीछे ही तो हैं, पर सीता उनको नहीं देख पाती। आइए, एक आवरण और है, जो अभी बतलाया जा चुका है। वह है कमल-दल के रूप में सीता की आँखों में बसी हुई राम की आँखें, जो देखने पर चारों ओर बरसती मालूम होती हैं।

लता ओट—तुलसीदास प्रकृति से सिर्फ नाटक के पर्दे का ही काम नहीं लेते, प्रत्युत उसे भावोत्पत्ति का एक साधन बना देते हैं और मनुष्य एवं प्रकृति को ऐसा एक दूसरे के साथ लपेट

देते हैं कि एक की दूसरे से सौंदर्य वृद्धि हो। यहां राम, सीता एवं प्रकृति को परस्पर-संबद्ध कर दिया गया है। यह लता क्या है? प्रेम की आँख मिचौनी में प्रेम-पात्र को छिपाकर खोजने को कुछ ज्यादह परेशान कर रही है, दिल में प्रेम तथा खोज के आवेग को कुछ अधिक बढ़ा रही है, नजर को तलाश के लिए जग और उत्सक बना रही है और राम के सौंदर्य वाले दृश्य को अधिक सुंदर कर रही है।

कला के अतिरिक्त नैतिक विचार दृष्टि से भी यह आवरण उत्तम ही है। यही बात तुलसीदास जी के श्रृंगार को अन्य कवियों के श्रृंगार से पृथक् करती है।

तब—कितना लघु परंतु सार्थक शब्द है। इससे प्रकट है कि खोज की व्याकुलता के पश्चात्, जब सखियों ने सीता की व्याकुलता का अनुभव किया, तब राम को दिखलाया। आँख मिचौनी में ऐसी ही खोज के पश्चात् जब कोई साथी जरा मदद दे देता है तो निराशा के बाद सफल खोज में बड़ा मजा आता है। तनिक पहले दिखला देने से वह सारा मजा जिसका वर्णन उपर्युक्त चौपाइयों में है, किरकिरा हो जाता है। अगर उसी समय सखियाँ सीता जी को उस ओर प्रेरित कर देतीं तो आँख मिचौनी का मजा न रहता और प्रेम की परिपक्वता में एक कसर बाकी रह जाती। फिर तनिक देर और न दिखलातीं तो कौन जाने, निराशा में वह आंखों की खोज भी मिट जाती और सहने में खतरा पैदा हो जाता।

सखिन लखाए—'लता' और 'लखाए' का अनुप्रास तथा 'सखिन' और 'लखाए' का शाब्दिक सादृश्य ('ख' के कारण) कितना सुंदर है। मानो ये सभी शब्द परस्पर सापेक्ष बने हुए हैं।

लखाए—इससे दूसरे का दिखलाना स्वयं प्रकट होता है। वस्तुतः सखियों में सहानुभूति भी है। केवल उपदेशप्रदता नहीं।

'सखिन लखाए' में गौण रीति पर कुछ व्यंग्य मिश्रित हास्य भी है। आखिर भेद खुल गया। व्याकुलता में वही सखियाँ काम आईं। आगे 'भूप किसोर देख किन लेहू' और 'पुनि आउब यहि बेरिया काली' में जो बहुत साफ छेड़छाड़ है, वह शायद यहीं से शुरू है। फिर है। फिर स्टेज पर सब सखियों का एक साथ ही उँगली उठाकर दिखलाना एक विचित्र दृश्य पैदा करता है। सभी आँखें उसी लता की ओट में छिपे हुए राजकुमारों की ओर उठ गईं। (एक सखी से 'सखिन' इसीलिए प्रयुक्त हुआ है)। सब सखियाँ एक साथ ही काम करती हैं। एक साथ बोलती, एक साथ चलती और एक साथ संकेत करती हैं। पहले भी सबने एक साथ पूछा था। कारण कि सब में वही ख्याल एक बार दौड़ जाता है। इन तमाम बातों से कवि का अभिप्राय सरसता को उतने ही गुणा करना और स्टेज पर उतनी ही अधिक सरसता उत्पन्न कर देने का है। मानो Charms केवल शब्दात्मक गायन तक समाप्त नहीं है, प्रत्युत सखि समूह की संपूर्ण प्रगति Charms बन गई है।

यहां एक बात और विचारणीय है। पहले 'संग सखी सब सुभग' और 'पूछहि सब मृदु बैन' इत्यादि में 'सब' पर विशेष बल दिया गया था, जो अब यहाँ नहीं है। कारण कि उसी एक सखी के अतिरिक्त जिसने राम को पहले ही देखा था और जो अभी तक निमग्नता की दशा में थी, शेष सभो सखियां एक ही भाव के आधीन थीं। अब राम के देखने के पश्चात् कोई तो (प्रेम बिवश) प्रेमोन्माद से प्रमत्त होगी, कोई निमग्नता की दशा में अचेत होगी, कोई सोचती होगी कि सीता को राम किस प्रकार मिलें इत्यादि। अतः इसी ख्याल से 'सब' का शब्द चौपाई में नहीं रक्खा गया।

लखाए—यह शब्द संकेत के लिए कितना समीचीन है। आह, परेशान निगाहें बार बार चूक जाती रही होंगो। इसी कारण सखियों को लखाने की जरूरत है। ज्यादा परेशानी में आंख के सामने की चीज दिखाई नहीं देती। फिर लता ओट होने में तो और भी मुश्किल है।

बियोग में अभिलाषा, स्मृति और चिंता—ये तीन दशाएँ हुआ करती हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में इन्हीं तीनों दशाओं का राम के 'लता ओट' जनित वियोग में दिग्दर्शन हुआ है।

श्रीकृष्ण

[श्री लक्ष्मण नारायण गर्दे]

संसार में अनेक महापुरुष उत्पन्न हुए, हो रहे हैं और आगे भी होंगे; पर अब तक जो हुए हैं, उनमें कोई भी ऐसा नहीं है, जिसके साथ श्रीकृष्ण की तुलना की जा सके। भारतवर्ष में भगवान बुद्धदेव जैसे सर्व-संग-परित्यागी धर्मोपदेशक, परिव्राजकाचार्य्य श्रीमत् शंकराचार्य्य जैसे धर्म-संस्थापक, राजा हरिश्चंद्र जैसे सत्य-वादी, दधीचि जैसे आत्म-त्यागी, शिवाजी जैसे गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक, स्वराज्य स्रष्टा, गुरु गोविंदसिंह जैसे धर्म-वीर आदि असंख्य महात्मा और प्रतापी पुरुष हुए। अन्य देशों में भी ईसा और मुहम्मद जैसे धर्म-संस्थापक, हैनिबाल जैसे महा-प्रतापी दिग्विजयी योद्धा, वाशिंगटन जैसे उदार-चरित्र, अब्राहम लिंकन जैसे परम-निस्पृह विश्व-बंधु आदि अनेक असंख्य महा-पुरुष अवतीर्ण हुए; पर इनमें से कोई भी ऐसा नहीं हुआ, जिसका चरित्र श्रीकृष्ण के समान सर्वांगीण हो। कोई धर्म-संस्थापक था, कोई वीर था, कोई त्यागी था, कोई परम भक्त था, कोई विश्व-बंधु था, कोई स्वराज्य-संस्थापक था, पर सब बातें एक साथ किसी में नहीं थीं। इसीलिए श्रीकृष्ण के साथ इनमें

से किसी की तुलना नहीं हो सकती। यदि श्रीकृष्ण के साथ तुलना करने के योग्य कोई वैसा ही आदर्श महापुरुष अवतीर्ण हुआ था, तो वे मर्य्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचंद्र में, जिनकी कीर्ति आज भी भारत की दशों दिशाओं में व्याप्त है और जिन का घर-घर में गुण गान होता है; परंतु भगवान् रामचंद्र भी श्रीकृष्णचंद्र के सामने नहीं ठहरते; क्योंकि यद्यपि भगवान् रामचंद्र ने अपने आचरण से संसार को सदाचरण का मार्ग दिखलाकर धर्म-राज्य की स्थापना की थी, तथापि उन्होंने श्रीकृष्ण के समान स्वमुख से धर्मोपदेश नहीं किया था। श्रीकृष्ण ने धर्म-राज्य और धर्म-क्षेत्र की स्थापना की। श्रीकृष्ण ने राज्य-क्रांति की और सामाजिक तथा धार्मिक क्रांति भी की। श्रीराम-चंद्रजी की तुलना में श्रीकृष्ण की यही विशेषता है। इसके अतिरिक्त रामचंद्र राज-पुत्र थे और श्रीकृष्ण कारा-गृह में पैदा हुए थे, गौएँ चरानेवालों में पले थे और सर्वत्र राज्य-क्रांति करा-कर सदा धर्म का उपदेश करते हुए चले गए। उन्होंने धर्म-राज्य की स्थापना की और हिंदू धर्म का अद्वितीय और सर्व-मान्य ग्रंथ भी निर्माण किया, जो केवल हिंदुस्थान में ही नहीं, आज सारे संसार में पूज्य माना जाता है। आज 'श्रीमद्भगवतगीता' ही हिंदू धर्म का आधार है और संसार में इसके जोड़ का दूसरा ग्रंथ ही नहीं है। इस बात को पश्चिमी देशों के विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। महाभारत-काल के पश्चात् भारत में जिन

जिन महात्माओं ने अवतीर्ण होकर हिंदू-समाज की व्यवस्था बांधी है, उन सबको अपनी व्यवस्था सुस्थिर रखने और उसे सर्व-मान्य कराने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण के इस अलौकिक ग्रंथ का ही आधार लेना पड़ा है। यही श्रीकृष्ण-चरित्र की अलौकिकता है, जिसके कारण किसी महापुरुष से उनकी तुलना नहीं हो सकती।

श्रीकृष्ण जिस समय पैदा हुए, उस समय में भारतवर्ष में अफगानिस्तान के गांधार (कंदहार) प्रदेश से लेकर प्राग्ज्योतिष याने आसाम तक और काश्मीर से ह्याद्रि-पर्वत-परंपरा के और भी दक्षिण में, बहुत दूर तक, हिंदू-आर्य-क्षत्रियों के अनेक छोटे-बड़े स्वतंत्र राज्य थे और सभी राज्य धन-धान्य-समृद्ध तथा ऐहिक उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए थे। स्थान-स्थान में बड़े-बड़े नगर और व्यापार-केंद्र थे तथा बड़े-बड़े राजप्रासादों, सरोवरों, उद्यानों और क्रीड़ास्थलों से देश परिपूर्ण था। सभी राजा प्रतापी और वीर थे, सभी स्वतंत्र थे, पर कोई चक्रवर्ती राजा नहीं था, यद्यपि उस समय मगध-देश के राजा जरासंध की धाक सबसे अधिक बैठी थी और यदि कोई राजा किसी को कुछ समझता था, तो जरासंध को ही। जरासंध ने कितने ही राजाओं को अपने यहाँ कैद भी कर रखा था, जिससे सब राजा उससे डरते और उसका लोहा मानते थे। जरासंध ने जो इतने राजाओं को अपने यहाँ कैद कर रखा था,

उससे यह मालूम होता है कि जरासंध को अपने बल का बड़ा अभिमान था और वह सर्वत्र अपने ही राज्य का विस्तार करना चाहता था। उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँचे हुए राज्यों में पहली बात जो हम देखते हैं वह यही है—अपने बल का गर्व और लोभ। चेदिदेश के राजा शिशुपाल आदि और भी अनेक गर्विष्ट राजा उस समय मौजूद थे। प्राग्ज्योतिष का राजा जैसा बलवान था, वैसा ही विलासी और दुराचारी भी था। उसने अपने राज्य में ऐसा दुराचार आरंभ किया था कि अपने विलास-भोग के लिए सोलह हजार एक सौ सुंदरी कुमारियाँ चुनकर अपने रंगमहल में ला रखी थी। दूसरी बात यही विलासिता और अनाचार है। तीसरी बात—कंस के दरबार में यह अत्याचार देखा जाता है कि उसने अपने पिता, परम नीतिवान महाराज उग्रसेन को कैद कर राजगद्दी पाई थी और वह प्रजा पर असह्य अत्याचार कर रहा था। चौथी बात—पांचाल देश में कौरव-पांडवों का भयंकर अंतःकलह है। इस अंतःकलह के साथ साथ विलासिता, दुराचार और अमानुषी अत्याचार तथा सत्यानाशी गर्व की मूर्तियाँ भी मौजूद थीं। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस समय इन स्वतंत्र हिंदू राज्यों की ऐहिक उन्नति पराकाष्ठा को पहुँची हुई थी, पर इन राज-पुरुषों का चरित्र भ्रष्ट हो चुका था। जब राजा तथा राज-पुत्रों का ही चरित्र भ्रष्ट हो, तब प्रजा कहाँ से सुखी हो

सकती है ? इसीलिए प्रजा को दुःख था और पृथ्वी के लिए यह पाप का बोझ असह्य हो उठा था।

जिस समय श्रीकृष्ण पैदा हुए, उस समय राज्य-सूत्र अधर्मी राजाओं के हाथ में था ; चतुर्वर्ण्य-व्यवस्था बिगड़ गई थी ; स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों का मोक्ष का अधिकार भी नहीं माना जाता था, क्योंकि वे सदा संसार में रत रहते थे और धर्म-परायण पुरुषों की इतनी अधिक उन्नति हुई थी कि त्यागियों का एक अलग समाज ही स्थापित हो गया था और वे लोग राज काज से अलग हो गए थे। इस तरह प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों की आत्यंतिक उन्नति हो गई थी। एक ओर अधर्म की प्रबलता थी तो दूसरी ओर धर्म की ; पर अधर्म को मारकर धर्म को राजगद्दी दिलानेवाला कोई नहीं था। इसी हेतु को सिद्ध करने के लिए श्रीकृष्ण का अवतार हुआ।

जिस समय श्रीकृष्ण का जन्म हुआ उस समय सर्वसाधारण लोगों के विलक्षण भाव के लोग अधर्म का प्रतिकार यथाशक्ति कर रहे थे। इस काम में आत्मबलिदान की सीमा हो चुकी थी। वसुदेव के छः बच्चों को कंस ने मार डाला था। प्रजा का मन संतप्त और क्षुब्ध था और सब मना रहे थे कि किसी तरह इन अधर्मियों के राज्य का सत्यनाश हो।

भाद्र कृष्ण अष्टमी की रात को रोहिणी नक्षत्र में आकाश से पर्जन्यवृष्टि और विद्युल्लता कड़कने के साथ श्रीकृष्ण का

जन्म हुआ। रातों रात वसुदेव उस बालक को गोकुल में पहुँचा आए। गोकुल में गौओं और गोपों के बीच में उसका लालन-पालन हुआ। ये गोप कौन थे? यादव कुल के अनेक क्षत्रियों ने क्षात्रवृत्ति छोड़ दी थी। वे वैश्य का पेशा करने लगे थे। इस तरह ये गोप वैश्य थे और क्षत्रिय भी। इनमें अनेक शूद्र भी रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। ये गोप नगर-निवासी नहीं थे। नगरों से दूर स्थानों में ये अपनी गौओं के साथ कभी यहाँ, कभी वहाँ, इस तरह बनजारों के समान रहते थे। इनका स्वभाव सरल था, ये सहृदय होते थे, ईश्वर के अस्तित्व में इनका विश्वास था; पर इनमें आर्य-संस्कृति नहीं थी—वर्णाश्रम धर्म का पालन नहीं था। ऐसे लोगों में पल कर श्रीकृष्ण बढ़ने लगे। गोपों का निष्कपट प्रेम, वनों का स्वतंत्र समीर और सरस जीवन का निष्पाप वायु-मंडल—इन बातों ने सुंदर-शरीर-धारी श्रीकृष्ण को निष्कपट और अतुल पराक्रमी बना दिया। बचपन में ही उन्होंने शरीर-सामर्थ्य के अद्भुत पराक्रम किए। वे गोपों के प्राण थे और उन पर अपने प्राण न्यौछावर करने को तैयार रहते थे। गोप मल्ल-विद्या में बड़े प्रवीण थे। श्रीकृष्ण उसमें उनके अग्रणी हुए। दिन-दिन गोपों और गोपाल का बल बढ़ने लगा। कंस घबरा उठा। उसे सर्वत्र काल-रूप कृष्ण दिखाई देने लगे। जल में, स्थल में, नभ में, सर्वत्र श्रीकृष्ण की काल-मूर्ति आविर्भूत होकर उसे डराने लगी। कृष्ण को मारने के लिए कंस ने जाल

बिछाया; पर उसमें वह आप ही जा फँसा और अंत में मारा गया।

श्रीकृष्ण ने कंस को मारकर उसका राज्य स्वयं नहीं लिया। उग्रसेन को राजगद्दी पर बिठाकर वे आप एक साधारण प्रजा-जन की भांति अपने माता पिता के पास मथुरा में रहने लगे। पर मथुरा की राज्य-क्रांति से भारत में सर्वत्र श्रीकृष्ण का नाम फैल गया और उस समय जो राजा राज्य करते थे, वे श्रीकृष्ण को अपना शत्रु मानने लगे। जरासंध तो आगबबूला होगया, क्योंकि एक तो श्रीकृष्ण के रूप में उसकी अधर्म-पूर्ण सार्व-भौम सत्ता के लिए एक नया शत्रु खड़ा हो गया और दूसरे, उसका दामाद कंस उन्हीं के हाथों मारा गया था। इसलिये जरासंध ने मथुरा पर चढ़ाई कर दी। मथुरा पर आए हुए इस संकट को टालने के लिए श्रीकृष्ण वहाँ से भाग गए। जरासंध ने मथुरा से अपनी सेना हटा ली और कृष्ण का भी पीछा किया। गोमंत पर्वत पर श्रीकृष्ण ने जरासंध आदि की अपार सेना का जिस वीरता और रण-कौशल के साथ संहार किया, इतिहास में उसका कहीं जोड़ नहीं है। इस युद्ध के पश्चात् करवीर-नरेश 'शृगाल' मारा गया यह राज्य भी श्रीकृष्ण ने स्वयं नहीं लिया, बल्कि शृगाल के पुत्र को गद्दी पर बिठाकर आप और आगे बढ़े और एक समुद्र-वेष्टित द्वीप में अपनी छावनी और राजधानी स्थापित की, जिसे द्वारका कहते हैं। पर श्रीकृष्ण स्वयं द्वारका

के भी राजा नहीं हुए। ये सब पराक्रम करके जिस समय श्रीकृष्ण मथुरा को फिर लौट आए, उस समय मथुरा-वासियों को यह आशा थी कि श्रीकृष्ण बड़े ठाट-बाट के साथ आवेंगे, पर श्रीकृष्ण एक साधारण गोप के भेष में ही मथुरा पहुंचे। उनका वह गोप-रूप समस्त राजाओं की समवेत राज्यश्री से अधिक तेजस्वी और दिव्य था। आगे चलकर श्रीकृष्ण ने जरासंध का बध कराया; पर वहाँ भी उन्होंने उसके पुत्र सहदेव को ही राजगद्दी पर बिठाया। फिर पौंड्रक वासुदेव को मार कर उन्होंने उसका राज्य भी उसी के पुत्र को सौंप दिया। इसी तरह श्रीकृष्ण ने अपने पराक्रम की सर्वत्र धाक तो बैठा दी; पर राज्य किसी का नहीं छीना। उन्होंने कंस का बधकर मथुरा में नीति और न्याय का राज्य स्थापित किया। उन्होंने जरासंध का बध कराके राजाओं को कैद से छुड़ाया और नरकासुर का नाश करके सोलह हजार एक सौ कुमारियों को मुक्त किया, जो श्रीकृष्ण के साथ ही द्वारका में आकर रहने लगीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थान स्थान में राज्य-क्रांति कराने में श्रीकृष्ण का कोई महान उद्देश्य था—उसमें उनके अपने स्वार्थ का लेश भी नहीं था।

गोमंत से लेकर आसाम तक सारे भारत को एक बार पादाक्रांत करके श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को भारत का सार्वभौम सम्राट निर्वाचित करने का उद्योग किया। युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ करने

का यही मतलब है। एक राजसूय-यज्ञ करके किसी को चक्रवर्ती राजा मानने की क्या आवश्यकता थी और युधिष्ठिर को यह पद क्यों दिया गया? भारत-व्यापी भिन्न भिन्न राज्यों को एक सूत्र में बांध कर एकता स्थापित करने का उद्योग प्राचीन काल से होता चला आया है। इस उद्योग को सब लोग एक महान् पुण्य-कर्म समझते थे। इसकी उपयोगिता आधुनिक राजनीति-जिज्ञासु भी समझ सकते हैं। प्रिंस विस्मार्क ने जिस प्रकार जर्मनी के छोटे-छोटे राज्यों को एक करके एक महान् शक्तिशाली जर्मन-साम्राज्य स्थापित किया, श्रीकृष्ण का यह उद्योग भी वाह्यतः उसी प्रकार का था। परंतु इसमें और उसमें बड़ा भारी अंतर इस बात का है कि इसका उद्देश्य धर्म-संस्थापन था और उसका इसके विपरीत। इसीलिए इस राजसूय-यज्ञ में चेदिदेश के राजा शिशुपाल जैसे महाप्रतापी राजाओं ने पुण्य-कर्म जान-कर ही योग दिया था। परंतु युधिष्ठिर ही सम्राट क्यों माने गये? उनसे अधिक तेजस्वी और प्रतिभावान राजा भी अनेक थे। परंतु युधिष्ठिर के समान धार्मिक, दयावान, न्याय-पूर्ण, सत्यवादी, सत्य-प्रतिज्ञ और सत्य-कर्मा दूसरा न था। युधिष्ठिर साक्षात् धर्मराज थे और इसी से धर्म-रक्षा के लिए किये जाने वाले राजसूय-यज्ञ में धर्मराज का ही राज्याभिषेक कराया गया। इस प्रकार धर्म-रक्षणार्थ साम्राज्य-स्थापन का महान् उद्योग सफल हुआ। पर धर्म-राज्य में अभी अनेक विघ्न थे। कंस,

जरासंध आदि का बध हो चुका था, श्रीकृष्ण और पांडवों की धाक जम गई थी, युधिष्ठिर का साम्राज्याभिषेक भी कराया जा चुका था; पर भीतर ही भीतर राजाओं के षड्यंत्र चल रहे थे। श्रीकृष्ण राजसूय से लौटकर द्वारका पहुँचते हैं तो क्या देखते हैं कि वहाँ शत्रुओं ने द्वारका पर चढ़ाई करके नगर बरबाद कर डाला है। श्रीकृष्ण इधर शत्रुओं से लड़ते हैं उधर पांडव कौरवों के जाल में फँसते हैं। पांडव जुए में हारकर बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञात-वास के लिए चले जाते हैं। श्रीकृष्ण को चैन नहीं है। जिस दिन उन्होंने कंस को मारा, उस दिन से उन्हें एक क्षण भी विश्राम करने को नहीं मिला। उन्हें नित्य नये शत्रुओं से सामना करना पड़ता था; पर इससे श्रीकृष्ण के उद्देश्य का ही रास्ता साफ होता जाता है।

पांडव चले गए; दुर्योधन युधिष्ठिर के सिंहासन पर बैठा। जब वनवास और अज्ञात-वास समाप्त हुआ, तब पांडव प्रकट हुए और अपना राज्य वापस मांगने लगे। वे कम से कम पाँच ग्राम चाहते थे; पर कौरवों ने नहीं माना। श्रीकृष्ण ने मध्यस्थता की; पर कौरवों ने किसी की नहीं सुनी। तब युद्ध हुआ। इस युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना का संहार हो गया। केवल दस आदमी बचे।

भारतीय युद्ध में क्षत्रियों का यह जो भयंकर संहार हुआ, उसी को बहुत से लोग भारत की वर्तमान अवनति का मूल कारण

समझते हैं। पर जिनकी ऐसी समझ है, उन्होंने श्रीकृष्ण-चरित्र के रहस्य को ही नहीं समझा है। जिस समय युद्ध प्रारंभ होने को था, उसी समय अर्जुन को यह शंका हुई थी कि इस युद्ध का परिणाम बुरा होगा, क्षत्रिय कुल नष्ट हो जायगा, क्षत्राणियां व्यभिचारिणी होंगी और वर्ण-संकरता फैलेगी, अधर्म का ही राज्य होगा, फिर धर्म कहाँ रह जायगा? इसी शंका का समाधान करने के लिए श्रीकृष्ण ने उस समय वह दिव्य उपदेश दिया है, जो आज भी धर्म की रक्षा कर रहा है। यदि युद्ध न होता, तो क्या होता? कौरवों का ही साम्राज्य होता। उस समय राजपुत्रों की बुरी दशा थी। धर्म की शोचनीय अवस्था थी। वास्तव में उस समय दुराचारी, लोभी और परापहारी ही राज-सिंहासनों पर विराज रहे थे। युद्ध न होता, तो इनका नाश न होता और अर्जुन को जिस बात की शंका हुई थी कि युद्ध से क्षत्रिय-कुल का नाश होकर अधर्म का राज्य होगा, वही बात उस समय युद्ध के पहले से हो रही थी और यदि युद्ध न होता, तो वह बात इतनी बढ़ जाती कि धर्म का शायद नाम भी न रह जाता। इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश किया कि बुद्धि-वाद छोड़कर केवल अपने धर्म का पालन करो, धर्म का पालन करने से अधर्म कदापि नहीं हो सकता। और वही बात हुई। अधर्म में रत क्षत्रिय-राजाओं का युद्ध में नाश हुआ और युधिष्ठिर जैसे सत्यवादी, अजात-शत्रु और धर्मावतार का साम्राज्य समस्त देश में

स्थापित हो गया। श्रीकृष्ण के जीवन का हमें यही उद्देश्य मालूम होता है।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि उस समय चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था थी; स्त्रियों में पातिव्रत-धर्म पूर्णता के साथ वर्तमान था; पर चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था बिगड़ी हुई थी और शूद्रों, वैश्यों तथा स्त्रियों के संबंध में लोगों का ऐसा खयाल हो चला था कि इन्हें मोक्ष का अधिकार नहीं है। इसके साथ ही उपनिषदों के गहन विचारों के प्रचार से धार्मिक पुरुषों के अंतःकरण पर यह दृढ़ संस्कार हो चुका था कि संसार से अलग होना ही मोक्ष का मार्ग है। श्रीकृष्ण ने जो धार्मिक-क्रांति की, वह इन्हीं विचारों से की और वह क्रांति बड़ी ही जबर्दस्त थी। श्रीकृष्ण उन्हीं शूद्रों और वैश्यों में पले थे जिनकी समाज में कोई प्रतिष्ठा न थी। श्रीकृष्ण ने उन्हें अपना लिया और उनके सरल हृदयों में भक्ति भाव का संचार कर दिया। वृंदावन-विहारी श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए गोपों की स्त्रियाँ दौड़ी जाती थीं और श्रीकृष्ण उन्हें भगवद्भक्ति का उपदेश देते थे। चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था उन्होंने अपने अधिकार-युक्त उपदेश से फिर से बाँध दी और निवृत्ति-परायण पुरुषों को उनके सांसारिक कर्तव्य और प्रवृत्ति-परायण पुरुषों को उनके पारलौकिक कर्तव्य बतलाए। इस प्रकार सारे समाज को फिर से संगठित कर दिया। श्रीकृष्ण का सारा जीवन केवल संहार में ही नहीं बीता। नित्य नए शत्रुओं से सामना

करना और उन्हें स्वर्ग का रास्ता दिखा देना, यह जिस प्रकार उनका नित्य कार्य क्रम था, उसी प्रकार धर्म का प्रचार करना, जिज्ञासुओं को वेदांत के गूढ़ तत्त्व समझाना और भक्तों को उपदेशामृत से तृप्त करना भी उनका नित्य कार्य-क्रम था। उस समय उनके मुकाबले का जिस प्रकार कोई शूर-वीर योद्धा नहीं था, उसी प्रकार कोई वैसा धर्म-वेत्ता और धर्मोपदेशक भी न था। श्रीकृष्ण संस्थापक थे और उन्होंने धार्मिक क्रांति करके जिन धर्म-सिद्धांतों की स्थापना की है, उनका श्रीमद्भगवद्गीता में समावेश हुआ है। यह ग्रंथ अद्वितीय है और उस धार्मिक क्रांति का परिचायक है। आज भारतवर्ष में सनातनधर्म के जो-जो संप्रदाय प्रचलित हैं, उनकी आधारभूता प्रस्थानत्रयी में श्रीमद्भगवद्गीता का स्थान है। श्रीकृष्ण की इस आध्यात्मिक क्रांति का प्रकाश हमें केवल साढ़े चार हजार वर्ष तक ही नहीं, बल्कि आज भी समस्त हिंदू जगत् पर प्रखरता के साथ फैला हुआ दिखाई देता है और यह कहना व्यर्थ न होगा कि जब तक हिंदू जाति जीती रहेगी तब तक श्रीकृष्ण का धर्मोपदेश इसी प्रकार दीप्तिमान रहेगा। प्रत्युत यह भी आशा की जा सकती है कि धीरे धीरे श्रीकृष्ण का प्रकाश सारे संसार में फैलेगा, क्योंकि भगवद्गीता ग्रंथ ऐसा ही अलौकिक है। लोकमान्य तिलक का ज्ञानोत्तर कर्मवाद, पूज्यपाद शंकराचार्य का ज्ञानोत्तर कर्म-संन्यास और अद्वैत-वाद इसी प्रकार द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सब मतों का

आधार यही श्रीकृष्ण का उपदेश है और महात्मा गांधी का अहिंसावाद भी इसी उपदेश का परिणाम है।

श्रीमद्भगवद्गीता ने ही पहले-पहल स्त्रियों और शूद्रों के मोक्षाधिकार का विधान किया और सब के लिए भक्ति-मार्ग का द्वार खोल दिया है। यों तो संसार में कोई वस्तु नई नहीं है, पर भक्ति-मार्ग के प्रवर्तक श्रीकृष्ण ही हुए हैं और आज इस मार्ग का जितना अवलंबन होता है, उतना और किसी मार्ग का नहीं। यह मार्ग सब के लिए सुगम भी है। भगवद्गीता की यह एक विशेषता है। दूसरी विशेषता प्रवृत्ति और निवृत्ति का निमंत्रण है। भगवद्गीता यह नहीं बतलाती कि ईश्वर को भूल-कर या ईश्वर के नाम पर संसार के सब सुख लूटते रहो और यह भी नहीं बतलाती कि संसार को छोड़कर जंगल में चले जाओ। गीता यह बतलाती है कि कर्म छोड़ने से नहीं छूटता, कर्म करना ही पड़ता है। कर्म-सातत्य का अबाधित नियम बतलाकर श्रीकृष्ण फल-त्याग पूर्वक कर्म करने का उपदेश देते हैं। निवृत्ति-परायण लोगों को इस प्रकार कर्म में प्रवृत्त करके श्रीकृष्ण ने समाज रक्षा की व्यवस्था की। फलाशा छोड़कर कोई कैसे कर्म कर सकता है? इस शंका का श्रीकृष्ण ने पूर्ण समाधान किया है। फलाशा छोड़कर कर्म करो फल तुम्हारे हाथ में नहीं है, कर्म को तुम अकेले नहीं करते—अधिष्ठान, कर्ता, कारण, प्रकृति की विविध चेष्टा और दैव, इन सबके संयोग से कर्म होता है और इन सब

की योजना करनेवाला ईश्वर ही तुम्हें कर्म में नियोजित करता है। इसलिए उसी परमेश्वर की आज्ञा का केवल पालन करना तुम्हारा धर्म है। इसलिए परमेश्वर को सब फल अर्पण करदो। इस प्रकार ही ईश्वरार्पण-बुद्धि से भक्ति-पूर्वक कर्म योग का अवलंबन करना ही श्रीमद्भगवद्गीता का सिद्धांत है और इस सिद्धांत को श्रीकृष्ण ने अपने आचरण और उपदेश से स्थापित किया है। किसी शास्त्र का, किसी मत का, उन्होंने विरोध नहीं किया। उन्होंने सब मतों को अपना लिया और यह मत स्थापित किया कि चाहे कोई किसी मार्ग से क्यों न जाय, पर सब ईश्वर की ओर ही जा रहे हैं। इस उपदेश में बाइबल या कुरान की अपेक्षा कितनी अधिक उदारता है ? वास्तव में श्रीकृष्ण सारे संसार के सुख के लिए ही ऐसी व्यवस्था बांध गए हैं। श्रीमद्-भगवद्गीता में संसार के सब आध्यात्मिक सिद्धांतों का विचार हुआ है और भक्ति-पूर्वक ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करने का सिद्धांत ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मनुष्य के मोक्ष का इतना सुलभ स्वतंत्र और श्रेष्ठ सिद्धांत श्रीकृष्ण ने ही स्थापित किया और धीरे-धीरे संसार इसी सिद्धांत की ओर झुक रहा है।

श्रीकृष्ण ने अपने जीवन में इस प्रकार धर्म-राज्य स्थापित कर एक नवीन युग प्रवर्तित कर दिया। श्रीकृष्ण ने यह लीला कलियुग के आरंभ में की थी। मानो इस कलिकाल में होने

वाले दुराचारों का दृश्य दिखाकर उन्होंने यह भी बतला दिया कि ईश्वर इस प्रकार उन दुराचारों का नाश करके सदाचार स्थापित करेंगे अधर्म का नाश करके धर्म की रक्षा करेंगे। श्रीकृष्ण-चरित्र कलियुग में ईश्वर की लीला का वर्णन है। कलिकाल में अनेक अत्याचार और दुराचार होंगे, दुष्टों का प्रभुत्व होगा और धर्म-परायण पुरुषों को बहुत कष्ट होगा। इसलिए बार-बार ईश्वर को अवतार लेने पड़ेंगे। इसीलिए श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रतिज्ञा की है कि जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ जाता है, तब-तब मैं आता हूं। साधुओं की रक्षा और दुष्टों का नाश कर धर्म स्थापित करने के लिए मैं हर युग में अवतार लेता हूँ।

भारतवासियों में अपव्यय

[श्री रामचंद्र वर्मा]

यह एक निश्चित सिद्धांत है कि जो देश या जाति उन्नति नहीं करती उसका नाश शीघ्र ही हो जाता है। विद्या, बुद्धि-बल, व्यापार, वैभव आदि सभी बातों में संसार के किसी देश या जाति से कम न रहना ही उन्नति की परम सीमा है। पर इस उन्नति का यह भी अर्थ न होना चाहिये कि वह देश या जाति सब प्रकार के कुकर्मों और पापों की खान बन जाय। एक ओर तो सब प्रकार की शक्ति और संपन्नता प्राप्त कर लेना और दूसरी ओर घोर पापों में लिप्त रहना अत्यंत गर्हित और निंदनीय है। हमारे पूर्वज नैतिक जीवन की पवित्रता का महत्व भली प्रकार जानते थे, इसीलिए उन्होंने हमारे सब प्रकार के आचारों और व्यवहारों में धर्म का पुट दे दिया था। पर अविद्या और भोगविलास में फँसे रहने के कारण हमने उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन न करके उसे समयानुकूल बनाने की कभी चेष्टा नहीं की और यही हमारे विनाश का कारण हुआ।

हमारे यहां बहुत प्राचीन काल से दान की प्रथा बहुत अधिक प्रचलित है और सब प्रकार के दानों में विद्यादान का

महत्व बहुत अधिक माना गया है। अभी हाल में मद्रास के एक विद्वान ने यह बात भलीभांति सिद्ध की है कि पूर्व काल में हमारे देवमंदिर बड़े बड़े विद्यालयों और पाठशालाओं का काम देते थे। मंदिरों में बड़े बड़े आचार्य और गुरु रहा करते थे जो विद्यार्थियों को अनेक प्रकार से शास्त्रों की शिक्षा दिया करते थे। प्रयाग, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार आदि के कुंभ के मेलों का मुख्य उद्देश्य यही था कि एक विशेष अवसर पर और विशेष स्थान पर सारे देश के विद्वान और महात्मा एकत्र हों; परस्पर भेंट करके लोग एक दूसरे के विचारों से लाभ उठावें और देशहित के कार्यों पर विचार करें। जैसे महत्वपूर्ण कार्य इन सम्मेलनों से होते थे, वैसे आज कल की कोरी वक्तृताएं दिलाने वाले कांग्रेसों और कान्फ्रेंसों से संभावित नहीं। इन अवसरों पर जो बड़े बड़े दान होते थे वे प्रायः ऐसे लोगों को ही मिला करते थे जिनसे देश के वास्तविक कल्याण की कुछ आशा की जाती थी। उस समय के दान लेनेवाले केवल अपने उदरपोषण के लिए सर्वसाधारण का धन लेते थे और उसके बदले में इतना अधिक उपकार करते थे कि उलटे सर्वसाधारण ही उनके ऋणी रहा करते थे। वास्तव में हमारे पूर्वजों का मुख्य अभिप्राय इसी प्रकार के दानों से था जिनके फलस्वरूप या तो हमारे देश का अंधकार दूर हो और या हमारे देश की उपजाऊ शक्ति बढ़े।

अब आप अपनी वर्तमान दान पद्धति की ओर ध्यान दें, तो आपको मालूम होगा कि ऊपर कहे हुए दान के सामने उसका कुछ भी मूल्य नहीं है आज कल हिंदू जिन्हें दान देते हैं उनमें देशोपकार करने की जरा भी शक्ति नहीं होती। दान देते समय हमें कभी स्वप्न में भी पात्र या अपात्र का विचार नहीं होता। धर्मग्रंथों में कहा है कि अपात्र को दान देने से दाता और गृहीता दोनों का नाश हो जाता है; पर हम उस ओर भी ध्यान नहीं देते। ऐसा दान प्रकृति दान नहीं कहा जा सकता। हाँ, उसे धन का अपव्यय और नाश अवश्य कह सकते हैं और यही कारण है कि हमने भी उसे अपव्यय की श्रेणी में रक्खा है। हम यह बात स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार का दान हमारे प्राचीन धार्मिक भावों की बहुत कुछ रक्षा किए हुए है और उसे नष्ट होने से बचाता है; पर इसमें भी संदेह नहीं कि दूसरी ओर हमारे देश को उससे असंख्य हानियाँ हो रही हैं। आजकल, दानस्वरूप, हिंदू जितना धन व्यय करते हैं उसके बदले में उन्हें शतांश भी लाभ नहीं पहुँचता। ऐसे दान से पारलौकिक सुख की आशा रखना भी व्यर्थ है। पारलौकिक सुख केवल उसी दान से संभावित है जो वास्तव में किसी दीन या असहाय की रक्षा और सहायता के लिए किया जाय। ऐसा दान मनुष्यमात्र का कर्तव्य है और उसका महत्व भी और दानों से अधिक है। इसके अतिरिक्त जो दान ऐसे कार्यों के लिए किया जाय जिनसे हमारे

देश की वास्तविक उन्नति संभावित हो तो वह भी सर्वश्रेष्ठ और परम कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त और सब प्रकार के दानों को अपव्यय हो समझना चाहिए।

इस दृष्टि से देखिए तो आपको मालूम हो जायगा कि हिंदू अपने बहुत से धन का दान के रूप में अपव्यय ही करते हैं। इस अपव्यय से देश की अनेक हानियाँ होती हैं। हमारे यहाँ के अधिकांश दानपात्र सब प्रकार की शक्तियों से हीन होते हैं और प्रायः अनेक प्रकार के दुर्व्यसनों में वे फँस जाते हैं। यदि दुर्व्यसनों में वे न भी फँसे, तो भी इसमें संदेह नहीं कि वे देश के लिए भार-स्वरूप हैं और उनके किए कोई हितकर कार्य नहीं हो सकता। उनके कारण देश की शक्ति का नाश और ह्रास होता है, और दिन पर दिन उनके समान अकर्मण्यों की संख्या बढ़ती है। यहीं आकर हमारे लिए शास्त्रों का वचन बहुत ठीक उतरता है कि कुपात्र को दान देने से दाता और गृहीता दोनों का नाश होता है। हमारा नाश ही हमारे समाज या देश का नाश है।

इसमें संदेह नहीं कि हिंदू दान देने में बहुत शूर होते हैं और इसीलिए उनमें दान लेने वाले शूरों की भी अधिकता से सृष्टि होती है। राजा कर्ण और हरिश्चंद्र सरीखे दानी उत्पन्न करने की शक्ति भारत के अतिरिक्त किसी दूसरे देश में नहीं है। उसी प्रकार निर्लज्ज दान लेने वाले भी केवल भारत ही उत्पन्न

कर सकता है। युक्तप्रदेश में ब्राह्मणों की एक जाति दान लेने वाली भीख माँगने में बहुत वीर होती है। इस जाति के लोगों के संबंध में यह बात बहुत अधिक प्रसिद्ध है कि शहरों में जाकर वे लोग दिन के समय तो अपनी कुमारी कन्याओं को लेकर बाजारों में घूमते और चिल्लाते फिरते हैं—बाम्हन नगरी में उपवास करत बाय" (ब्राह्मण नगरी में उपवास कर रहा है)। यह कहने की आयश्यकता नहीं है कि घंटे दो घंटे इस प्रकार फेरी लगाने से ही वे डेढ़ दो सेर आटा और दो चार आने पैसे पा जाते हैं। उनकी दिन की कमाई इससे बिलकुल भिन्न होती है। केवल वही नहीं, बल्कि उनके परिवार के अन्य सभी पुरुष भिन्न भिन्न स्थानों में घूमकर इसी प्रकार भीख मांगते हैं। इस जाति के लोगों में, विवाह आदि के अवसर पर, बर या कन्या पक्ष की योग्यता और संपन्नता का अनुमान केवल एक इसी बात से लगा लिया जाता है कि "उनके यहाँ तो चार लोटे चलते हैं।"

इस प्रकार के झूठे दान के बाद भारतवासियों का दूसरा अपव्यय मुकदमे-बाजी है। इस काम में क्रम से मदरासी बिहारी और पंजाबी, शेष भारत के समस्त प्रदेशों से बहुत बढ़े चढ़े हैं। युक्तप्रांत और मध्य प्रदेश वाले भी कुछ कम मुकदमे-बाज नहीं होते। जमीदारों और खेतिहरों को तो अपन मुकदमों से इतना समय, धन या अवकाश ही नहीं बच रहता कि वे उसे दूसरे कार्य्यों में लगा सकें। मुकदमेबाजी को भी

बड़ा भारी नशा समझना चाहिए। प्रायः देखा गया है कि जो लोग अपनी आधी या उससे भी अधिक अवस्था तक कभी कचहरी नहीं गये, वे भी एक बार वादी या प्रतिवादी बनकर कचहरी जाते ही मुकदमों के कीड़े बन गये हैं, ऐसे लोगों को नित्य कचहरी जाने का रोग सा हो जाता है और कोई आवश्यक कार्य्य न होने पर भी बिना कचहरी गए उन्हें चैन नहीं पड़ता। मुकदमेबाजी में अनेक प्रकार के आवश्यक और अनावश्यक व्यय अधिकता से करने पड़ते हैं, अनेक अवसरों पर बहुत कुछ झूठ बोलना पड़ता है, अनेक प्रकार के दाँव-पेंच तथा अन्य कुकर्म करने पड़ते हैं और अंत में यज्ञ-कुंड में अपने और अपने सर्वस्व की आहुति भी देनी पड़ती है। सैकड़ों हजारों उदाहरण ऐसे उपस्थित हैं जिनमें मुकदमेबाजी के कारण बड़े बड़े धनवान अपना सर्वस्व नष्ट करके ऋणी और कंगाल हो जाते हैं। बड़ी भारी विलक्षणता इसमें यह है कि अधिकाँश मुकदमे बहुत ही छोटी और तुच्छ बातों के लिए हुआ करते हैं, और उनका मुख्य कारण अपना बड़प्पन दिखलाने या आन रखने के सिवा और कुछ भी नहीं होता। अभी थोड़े दिनों की बात है बंबई प्रांत के दो धनवानों में केवल इसी बात के लिए कई वर्षों तक मुकदमेबाजी होती रही कि उनमें से एक की बिल्ली प्रायः दूसरे के घर जाया करती थी। यह मुकदमा हाई-कोर्ट तक पहुँचा था और उनमें दोनों पक्षों के ५००००) से भी अधिक रुपए

व्यय हुए थे। काशी में एक छोटासा चबूतरा है जिसकी लंबाई ४ या ५ गज और चौड़ाई १ गज से भी कुछ कम है। इस चबूतरे के लिए एक वार मुकदमा चला था जिसमें दोनों पक्ष वालों के एक एक लाख रुपए लग गए। तभी से उस चबूतरे का नाम लक्खी चबूतरा पड़ गया और अब तक उसी नाम से विख्यात है। इसमें विशेषता यह है कि यह चबूतरा किसी अच्छे मौके पर भी नहीं है। इसी प्रकार और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिसमें व्यर्थ की अथवा बहुत छोटी बातों के लिये बड़े बड़े मुकदमे होते हैं। इधर कई वर्षों से हमारे देश में कुछ स्थानों में नये सिरे से पंचायत की प्रथा प्रारंभ हुई है। यद्यपि इन पंचायतों के निर्णय बहुत ही उपयुक्त हुआ करते हैं पर तो भी न जाने क्यों लोग उससे लाभ उठाने से वंचित रहते हैं। प्राचीन काल में हमारे यहाँ केवल राजधानी के बड़े बड़े मुकदमे ही राजाओं या शासकों के सामने जाते थे, शेष सब मुकदमे गाँव की पंचायतों में ही हुआ करते थे। यूरोप के दो एक स्वतंत्र प्रदेशों ने तो इसकी उपयोगिता यहाँ तक स्वीकार की है कि वहाँ कोई मुकदमा विना एक बार पंचायत में गए राजा के न्यायालय में जा ही नहीं सकता, अर्थात् वहाँ मुकदमों का निर्णय केवल पंचायत द्वारा होता है और राज्य के न्यायालयों में उनकी अपील होती है।

हमारे देश में अपव्यय की तीसरी और बड़ी मद ऐयाशी

है भारतवर्ष के अध:पतन में सबसे अधिक सहायता इसी विलासिता ने दी है, यहाँ तक कि पृथ्वीराज की विलासिता ने ही इस देश को विदेशियों के अधीन कर दिया और अनंत-काल के लिए परतंत्र बना दिया। पृथ्वीराज बड़े भारी वीर और योद्धा थे और उनके पास सब प्रकार का बल था; पर उन्होंने अपने इन सब गुणों का अधिकाँश उपयोग केवल विलासिता और इंद्रिय-सुख के लिए ही किया था और अंत में जब उन्हें विदेशियों का सामना करना पड़ा तो वे अपनी निर्बलता के कारण अपने देश की रक्षा न कर सके। यदि इच्छनी, संयोगिता आदि ग्यारह रानियों के लिए उन्हें बाईस बार बड़े-बड़े युद्ध न करने पड़ते, तो भारत-वर्ष को भी पराधीनता की बेड़ी न पहननी पड़ती। भोग विलास में भारतवासियों की समानता कदाचित ही कोई कर सकता है। वाजिदअली शाह से बढ़कर विलासी जगत में दूसरा नहीं हुआ। उनकी हरम-सरा में नित्य नई स्त्रियाँ भर्ती होती थीं और सबको हजारों रुपये मासिक वेतन मिला करते थे। किसी को दो, किसी को चार और किसी को दस या बीस हजार रुपये मासिक सरकारी खजाने से मिलते थे। इनके सिवा विवाहिता और खास बेगमों की संख्या सैकड़ों से भी अधिक थी जिनमें प्रत्येक को कई लाख रुपए मासिक मिला करते थे। वाजिदअली अपने आपको कृष्ण कहा करते थे और सदा "सोलह सौ गोपियों" से घिरे रहा करते थे।

उन्हें दिन रात मांस, मदिरा और पौष्टिक पदार्थ खाने और परिस्तान में आनंद करने के सिवा और कोई काम ही न था। पर इन सब का परिणाम क्या हुआ ? यही कि अंगरेजों ने उन्हें तख्त से उतार कर उन्हें मटियाबुर्ज में नजरबंद कर दिया और उनके लिए एक लाख मासिक वृत्ति नियत कर दी। नवाब साहब के यह लाख रुपए दो चार या पाँच रोज में ही खर्च हो जाते थे और शेष मास उन्हें खाली हाथ ही बिताना पड़ता था। एक कहावत है कि "खर्च मनुष्य को तोड़ कर टूटता है।" अर्थात् जो मनुष्य एक बार अपव्यय आरंभ कर देता है, वह जब तक स्वयं नष्ट न हो जाय तब तक उसका व्यय कम नहीं हो सकता। यही दशा वाजिदअली शाह की थी। इस दुरवस्था में भी उन्होंने तीन लाख कबूतर पाल रक्खे थे और नवाब साहब की सवारी उन्हीं की छाया में निकला करती थी।

इस प्रकार भोग विलास, वेश्या, भांड़, मदिरा आदि में अपना सर्वस्व फूँक देने वालों की संख्या हमारे देश में बहुत अधिक है। कलकत्ते में जब तक किसी के पास कम से कम एक वेश्या न हो तब तक उसकी गिनती "रईसों" में हो ही नहीं सकती। यद्यपि वहाँ रईस या बाबू बनने के लिए एक गाड़ी घोड़ा और एक बाग को भी आवश्यकता होती है, पर जिसके पास ये चीजें न हों, उसको कम से कम एक वेश्या तो अवश्य

ही रखनी पड़ती है, और विशेषता यह कि मदिरा बिना उसका भी एक अंग अपूर्ण ही समझा जाता है। जिन लोगों को आचार-विचार का थोड़ा बहुत ध्यान रहता है और जो भाग्य-वश वेश्यागमन से बच रहते हैं, उन्हें भी अंततः अपने पुत्र पौत्र आदि के यज्ञोपवीत और विवाह के अवसरों पर भाँड़ों और वेश्याओं का नाच अवश्य कराना पड़ता है। आधे से अधिक ऐसे अवसरों पर तो लोगों को इन कार्यों के लिए ऋण ही लेना पड़ता है। महफिलों में, जहाँ वेश्याओं का नृत्य होता है, सब से आगे छोटे और कोमल-मति बालक ही बैठाए जाते हैं। उन के नष्ट होने का सूत्रपात्र यहीं होता है। प्रायः महाजनों के दिवाले धूमधाम से विवाह में नाच कराने के कारण ही हो जाते हैं। साधारण स्थिति के लोगों को नष्ट करने के लिए मदिरा, भाँग, गाँजा, चंडू, अफीम, कोकेन आदि अनेक प्रकार के नशे भी कम नहीं है। सारांश यह कि हमारी आय के द्वार जितने कम हैं व्यय के मार्ग उतने ही अधिक हैं। और जब तक हम लोग इस प्रकार के विनाशक अपव्यय से अपना पीछा न छुड़ा लें तब तक हमें अपनी, उन्नति की कौन कहे, स्थिति की भी आशा न रखनी चाहिए।

जो दुर्गुण किसी उन्नत और संपन्न जाति के भी नष्ट कर देने के लिए यथेष्ट हैं वे ही दुर्गुण निर्धन, अशक्त, अशिक्षित, रोगी और अल्पजीवी भारतवासियों में अधिकता से भरे हुए

हैं। इसका शोकजनक परिणाम थोड़े से विचार से ही मालूम हो सकता है। हमारे लिए शिक्षा, साहित्य, शिल्प, वाणिज्य आदि अनेक लाभदायक और परम आवश्यक कार्य्य पड़े हुए हैं जिनकी उन्नति बिना हमारे तन, मन और धन लगाए हो ही नहीं सकती। पर हम उनका कुछ विचार न कर, अपनी वर्तमान दशा से ही संतुष्ट हो रहते हैं। यदि कभी कोई बात चली भी तो हम यही कहकर अलग हो जाते हैं कि "यह सब हमारे भाग्य का ही दोष है।" पर हम यह नहीं जानते कि मनुष्य अपने भाग्य का आप ही विधाता होता है। हमारे कृत्य ही हमारा भाग्य है। हम अपने ही कृत्यों से अपने सौभाग्य को नष्ट करते और अपने दुर्भाग्य को सौभाग्य बना सकते हैं। अपने देश की वर्तमान हीनावस्था को देखते हुए हमें सब प्रकार के भोग विलास, और आलस्य आदि त्याग कर कर्मक्षेत्र में उतर पड़ना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को यथा साध्य अपनी और अपने देश की उन्नति में लग जाना चाहिए। यदि हम दृढ़-प्रतिज्ञ होकर कोई कार्य्य आरंभ कर दें तो निःसंदेह ईश्वर भी सब प्रकार से हमारी सहायता करने लग जायगा और तब हम जगत को दिखला सकेंगे कि मनुष्य ही अपने भाग्य का निर्माता होता है। अपनी अज्ञानता के कारण भाग्य का ईश्वर को दोष देना बड़ी भारी भूल है, जो लोग वास्तव में योग्य होते हैं वे कभी भाग्य या विधाता को दोषी नहीं ठहराते

बल्कि स्वयं कमर कस कर कार्य्य आरंभ कर देते हैं और अंत में उन्हें सफलता भी हो ही जाती है। हमें भी इस सिद्धांत पर दृढ़ विश्वास रख कर उद्योग आरंभ कर देना चाहिए; ईश्वर हमें अवश्य विजयी करेगा।

जन्मेजय का नागयज्ञ

[श्री जयशंकर प्रसाद]

स्थान—कानन

[तक्षक]

तक्षक—प्रतिहिंसे ! तू क्यों हृदय को जला रही है ! मैं अपने शत्रुओं को सुखासन पर बैठे, साम्राज्य का खेल खेलते, देख रहा हूँ और स्वयं दस्युओं के समान अपनी ही धरणी पर पैर रखते हुए भी काँप रहा हूँ। प्रलय की ज्वाला इस कंकाल में धधक उठती है ! तू बलि चाहती है, तो ले, मैं दूँगा। छल, प्रवंचना, कपट, अत्याचार, सब तेरे सहायक होंगे। हाहाकार, क्रंदन और पीड़ा तेरी सहेलियाँ बनेंगी। रक्त-रंजित हाथों से तेरा अभिषेक होगा। शून्य गगन शव-गंध-पूरित धूप से भरकर तेरी धूपदानी बनेगा। तक्षक पुजारी होगा—कंटकासन पर बैठकर तेरी उपासना करेगा। ठहर देवी, ठहर !

[खड्ग निकालता है]

[वासुकि का प्रवेश]

वासुकि—क्यों नागनाथ ! क्या हो रहा है ? किस पर क्रोध है ?

तक्षक—प्रिय वासुकि, तुम आ गए? कहो वह काश्यप ब्राह्मण आवेगा कि नहीं!

वासुकि—प्रभो! वह तो गहरी दक्षिणा पाकर फिर राजकुल से संतुष्ट हो गया है। किंतु उसे एक बात का बड़ा खेद है। वह रानी के मणि-कुंडल दूसरे ब्राह्मण को मिलना सहन नहीं कर सकता। इसी से आशा है कि वह फिर आपसे मिलेगा। सरमा भी अपनी करनी का फल पा रही है। वह अत्यंत अपमानित की गई है। संभव है, वह फिर नागकुल में लौट आवे।

तक्षक—मणि-कुंडल! कौन, वे ही, जो हम नागों की अमूल्य मणि हैं! हाय वासुकि, वे फिर कहाँ मिलेंगे! किंतु यदि वे मिल जाते तो वही काश्यप को देकर उन्हें अपनी ओर मिला लेता। राजकुल का पूरा समाचार काश्यप ही से मिल सकता है।

काश्यप—(प्रवेश करके) नागनाथ को जय हो!

तक्षक—प्रणाम करता हूं ब्राह्मण देवता। कुशल तो है?

काश्यप—आर्य, क्षत्रियों को घमंड हो गया है। उनके सविनय प्रणाम में एक तीखा तिरस्कार भरा रहता है। ब्राह्मणों का सिर-स्थानीय होना वे सहन नहीं कर सकते। वे राज-मद से इतने मत्त हैं कि अध्यात्म-गुरु की अवहेला क्या, कभी कभी परिहास तक कर बैठते हैं उनके क्रोध को हँसी में उड़ा देते हैं। यह बात इस विशुद्ध ऋषि-कुल-संभूत शरीर को सहन नहीं है।

मुझे उनका अभिमान तोड़ना पड़ेगा। नाग-राज, अभी क्षत्रिय स्पष्टरूप से ब्राह्मणों के नेतृत्व का विरोध नहीं कर सके हैं। अभी वे प्राचीन संस्कार के वशीभूत हैं।

तक्षक—तो फिर हमें क्या आज्ञा है ?

काश्यप—घबराओ मत। अभी ब्राह्मणों में वह बल है, तप का वह तेज है कि वे नाग जाति को क्षत्रिय बना लें। तुम लोगों को भी चाहिए कि जहाँ तक हो सके, आर्य जाति की इंद्रिय-प्रबलता के सहायक बनो। उनमें अपने रक्त का मिश्रण करो। समय आने पर तुम्हारे ही वंशधर इस भारत के अधिकारी होंगे। पर इसके लिए उद्योग करते रहो।

तक्षक—प्रभो, मणिकुंडल कौन ब्राह्मण लाया है। वे हम लोगों को एक प्राचीन और अमूल्य संपत्ति हैं।

काश्यप—(नेपथ्य की ओर देखकर) लो, वह आ रहा है। हम और वासुकि छिप जाते हैं।

[वासुकि का हाथ पकड़कर जाता है]

[उत्तंक का प्रवेश]

तक्षक—ब्रह्मचारिन्, नमस्कार करता हूँ।

उत्तंक—कल्याण हो ! मैं थक गया हूं। यदि यहां विश्राम करूँ, तो आप असंतुष्ट तो न होंगे ? क्या आप इस कानन के स्वामी हैं।

तक्षक—अब तो नहीं हूँ ; पर हाँ कभी था। आप बैठिए।

[उत्तंक बैठता है फिर थककर सो जाता है]

[काश्यप का प्रवेश]

तक्षक—क्यों काश्यप, इसने मणि-कुंडल कहाँ रक्खे होंगे।

काश्यप—अपने उष्णीष में। मैं हट जाता हूँ। तुम्हें देखकर मुझे डर लग रहा है। तुम इतने भयानक क्यों दिखाई देते हो।

तक्षक—महात्मन्, आप जब अपना धर्म करने लगते हैं जब यज्ञ करने लगते हैं, तब आपभी मुझे इतने ही भयानक देख पड़ते हैं। जब पशुओं की कातर दृष्टि आपको प्रसन्न करती है, तब सच्चे धार्मिक व्यक्ति का जी काँप उठता है।

काश्यप—अजी वह तो धर्म है, कर्त्तव्य है!

तक्षक—किंतु हम असभ्य जंगली लोग धर्म को पवित्र, अपनी मानवी प्रवृत्ति से परे, एक उदार वस्तु मानते हैं। अपनी आवश्यकता को, अपनी लालसामयी दुर्बलता को उसमें नहीं मिलाते। उसे बालक की निर्मल हँसी के समान अछूता ही रहने देते हैं। यदि पाप को पाप ही कह सकते, तो उसपर धर्म का मिथ्या आवरण ही क्यों चढ़ाते!

काश्यप—बस करो। नागराज, अभी तुमको यह भी नहीं मालूम कि पाप और पुण्य किसे कहते हैं। सूक्ष्म तत्वों को समझना तुम्हारी मोटी बुद्धि और सामर्थ्य के बाहर है।

जो तस्करता करना चाहते हो, वह करो। आर्यों को यह कला नहीं सिखलाई गई है।

[तक्षक छुरी निकालता है। काश्यप चिल्लाता है—"हैं हैं, ब्रह्म हत्या न करो।" तक्षक उसे ढकेल कर उत्तंक का उष्णीष लेना चाहता है उत्तंक जाग उठता है। तक्षक छुरी मारना चाहता है। सरमा दौड़ती हुई आती है और तक्षक का हाथ पकड़ लेती है। तक्षक उत्तंक को छोड़कर उठ खड़ा होता है।]

सरमा—हा नृशंस तक्षक!

तक्षक—तुझे इस विश्वासघात का पूरा प्रतिफल मिलेगा। परिणाम भोगने के लिए प्रस्तुत होजा! आज यह छुरी तेरा ही रक्तपान करेगी!

उत्तंक—पामर नाग! तुझे लज्जा नहीं आती! सोए हुए व्यक्ति को मार डालना चाहता था; अब नारी की हत्या करना चाहता है!

तक्षक—अरे, तुझमें भी नागराज तक्षक को ललकारने का साहस है। देखूं तो, तू अपने आपको या पापिनी सरमा को कैसे बचाता है।

[छुरी उठाता है]

उत्तंक—यदि मैं ब्राह्मण हूँगा, यदि मेरा ब्रह्मचर्य्य और स्वाध्याय सत्य होगा, तो तेरा कुत्सित हाथ चल ही न सकेगा। हत्याकारी दस्यु को यह अधिकार नहीं कि वह सत्यशील ब्रह्म-तेज पर हाथ चला सके। पाखंडी, तेरा पतन समीप है।

[तक्षक छुरी चलाना चाहता है। वासुकि आकर हाथ पकड़ लेता है]

वासुकि—नागराज, क्षमा करो। यह मेरी स्त्री है।

तक्षक—वासुकि, तुम विद्रोह करने वाली को दंड से बचाते हो।

वासुकि—फिर भी यह मेरी स्त्री है। नाग-राज, सरमा और उत्तंक मुक्त हैं। वे जहां चाहें, जा सकते हैं।

सरमा—यह आर्य-संसर्ग का ही प्रताप है। नागराज, आप मेरे पति हैं, किंतु आपका मार्ग भिन्न है और मेरा भिन्न। फिर भी मेरा अनुरोध है कि जब अवसर मिले, मनुष्यता को व्यवहार में लाइएगा। केवल हिंसक पशु ही मत बने रहिएगा। अपने आपको सर्प की संतान मानकर कुटिलता और क्रूरता की ही उपासना मत कीजिएगा।

वासुकि—क्या पति होने के कारण तुम पर मेरा कुछ भी अधिकार नहीं? अब मैं तुम्हें न जाने दूंगा।

सरमा—आपको और सब अधिकार है; पर मेरी सहज स्वतंत्रता का अपहरण करने का नहीं।

वासुकि—इसका अर्थ ?

सरमा—इसका अर्थ यही है कि मैं आपके साथ चलूंगी पर अपमानित होने के लिए नहीं। आपको प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी।

वासुकि—मैं प्रतिश्रुत होता हूँ।

सरमा—अच्छी बात है।

[सब जाते हैं]

गद्य-काव्य

[श्री राय कृष्णदास]

साधना

हे नयनरंजन नीरद, तू संतप्तों को शीतल करने के लिए अपने आपको बरस देता है। यह तन की साधना मैं तुझ से सीखता हूँ।

हे मानस, तू निरंतर मोती के समान उज्ज्वल, निर्मल और रम्य तरंगें उठाया करता है, जिनके सुख में मग्न होकर सुवर्ण-सरोज झूमा करते हैं और निरंतर तुझे मकरंद-दान देते रहते हैं। तू उसे सादर ग्रहण करके फिर उन्हीं के समूल नाल पुष्ट करने में प्रयुक्त करता है। जब समस्त सर पंकिल और राजहंस विकल हो उठते हैं तब उन्हें तेरे सिवा कौन आश्रय दे सकता है? यह मानसी साधना मैं तुझ से सीखता हूँ।

हे पादप, फलों के बोझ से तू झुक जाता है और तेरी डालें टूटने लगती हैं। पर तू अपना नियम नहीं छोड़ता। क्योंकि बुभुक्षितों को तृप्त करके उनकी आँखें खोलना तेरा प्रण है। बुद्धि की सफलता भी यही है। और, इसे मैं तुझ से सीखता हूँ।

चातक, तू अपनी ज्वलंत कामनाओं को सब ओर से

एकत्र करके एक स्वाति की बूँद पर लगाता है और तू अपनी 'धुन' का इतना पक्का है कि साल भर उसी की रट लगाये रहता है और उसी एक बूँद से अमृत पान के समान छक जाता है। तेरी उस पर इतनी अनुरागमयी प्रबल कामना है कि तू उसमें मिल कर अपने अहंभाव का अभाव नहीं कर देता। वरन केवल इसीलिए आत्मभाव बनाये रखता है कि निरंतर उसकी आशा और लाभ के आनंद का सुख लूटा करे। यह अहंभाव-मयी कामना की साधना मैं तुझ से सीखता हूँ।

और मेरी इन सब साधनाओं का उद्देश्य क्या है? एक मात्र यही कि प्राणेश को सिद्ध करलूँ।

अनुराग विराग

जब मैं कोई फूल देखता हूँ तब मेरा हृदय तुम्हारा गुण गान करने लगता है। एक छोटे से फूल को तुमने इतने प्रेम से बनाया है। उसमें कितना सौंदर्य्य भर दिया है और उसे कितनी सजीवता प्रदान की है। मैं उसे देखते देखते उसको तथा अपने को भूल जाता हूँ और तुम्हीं तुम रह जाते हो। अहा! तुम्हारी बातें भी कैसी निराली है। तुमने दया के मारे अपने मिलने के कितने द्वार बना दिये हैं!

पर यह कौन है जो आकर मुझे चौंका देता है और मुझे हटाता है? वह कहता है कि—"हटो, भागो। यह विश्व तो माया का जाल है, इसमें फँस कर तुम नष्ट हो रहे हो। इससे बचो।

वह ठगिनी तो तुम्हें उससे दूर लिये जा रही है जो सब जगह है।"

कैसी उलटी बात है। जब सब जगह तुम्हीं हो तब कोई तुम से दूर कैसे जा सकता है? और, यदि कुछ काल के लिये उसी की बात मानलें कि यह विश्व माया का जाल है, तब भी तो इसके बाहर जाने का उपाय नह।

हे नाथ! यह वाटिका तुम जिसके माली हो और जिस पर तुम्हारा इतना वात्सल्य है कि इसका समस्त अशिव अपने ऊपर लेकर तुम इसके 'शं-कर' बनते हो इसमें ऐसी कुभावना करने से बढ़कर कौन पाप, अनर्थ और नीचता होगी!

क्या स्वयं वही जड़ माया के फंदे में नहीं फँसा है जो उसे सर्वत्र माया ही माया दीख पड़ती है?

आनंद की खोज

आनंद की खोज में मैं कहाँ कहाँ न फिरा? सब जगह से मुझे उसी भांति कलपते हुये निराश लौटना पड़ा जैसे चंद्र की ओर चकोर लड़-खड़ाता हुआ फिरता है।

मेरे सिर पर कोई हाथ रखने वाला न था और मैं रह रह कर यही बिलखता कि जगन्नाथ के रहते भी मैं अनाथ कैसे रहता हूँ, क्या मैं जगत् के बाहर हूँ!

मुझे यह सोच कर अचरज होता कि आनंद-कंद मूलक इस विश्व-बल्लरी में मुझे आनंद का अणु मात्र भी न मिले!

हा! आनंद के बदले मैं रुदन और शोच को परिपोषित कर रहा था।

अंत को मुझसे न रहा गया। मैं चिल्ला उठा—आनंद, आनंद, कहाँ कहाँ है आनंद! हाय! तेरी खोज में मैंने व्यर्थ जीवन गँवाया। वाह्य प्रकृति ने मेरे शब्दों को दुहराया, किंतु आंतरिक प्रकृति स्तब्ध थी। अतएव मुझे अतीव आश्चर्य हुआ। पर इसी समय ब्रह्मांड का प्रत्येक कण सजोव होकर मुझसे पूछ उठा—क्या कभी अपने आप में भी देखा था? मैं अवाक् था।

सच तो है। जब मैंने—उसी विश्व के एक अंश—अपने आप तक में न खोजा था तब मैंने यह कैसे कहा कि समस्त सृष्टि छान डाली? जो वस्तु मैं ही अपने आप को न दे सका वह भला दूसरे मुझे क्यों देने लगे।

परंतु, यहां तो जो वस्तु मैं अपने आप को न दे सका था वह मुझे अखिल ब्रह्मांड से मिली और जो मुझे अखिल ब्रह्मांड से न मिली थी वह अपने आप में मिली!

स्वतः सिद्धिः

उस महानद के एक सुनसान ऊँचे कगारे पर मेरी निराली झोपड़ी थी। दूर दूर तक ऊँची नीची भूमि फैली थी, जिसमें कहीं कहीं कुश उगे थे। एक विशाल, वट-वृक्ष मेरे उटज पर छाया किये हुए था। उसकी सुदीर्घ शाखाएँ उस महानद तक

पहुँचकर भी उसमें निमग्न इसलिए न हुईं थीं कि उसके उज्ज्वल हृदय में अपनी छाया देखकर उन्हें जो आनंद मिलता था उससे वे वंचित हो जातीं। और उसके शत-शत मूलों ने किनारे पर फैलकर मेरे लिए एक प्रशस्त घाट बना रक्खा था।

एक दिन मेरे पास दीपक न था। कृष्ण-पक्ष था और रात्रि भी निकट आ रही थी। संध्या की उदासी ने मुझे व्याकुल कर दिया और मैं पागल की भांति कुटी से बाहर हुआ। मैंने किसी प्रकार, किनारे तक अपना शरीर-भार वहन किया और वहीं उसे पटक दिया। अंधकार बाह्य प्रकृति को ही नहीं, मेरे अभ्यंतर को भी आच्छादित कर रहा था। मेरी किंकर्तव्य-विमूढ़ दशा वर्णन करने के लिए कोई शब्द नहीं।

उसी समय मुझे नद में दूर तनिक सा प्रकाश दीख पड़ा। मैंने समझा कि किसी तारे की छाया होगी या जुगनू होगा। पर वह धारा के साथ मेरी ओर चला आ रहा है।

अहोभाग्य ! यह तो दीपक है।

जहाँ मैं बैठा था वहो धारा टकराती थी। अब मुझे चिंता न थी। वह दीपक अब इतना पास आ गया था कि एक क्षण में वह हाथ से पकड़ लिया जाता। पर इसी समय एक लहर उसे बुझा देती है। मेरे लिए अंधकार ही अंधकार।

पुनः एक दीपक दिखाई पड़ता है। फिर मेरा हृदय उल्लसित

होता है। पुनर्वार वह मेरे पास पहुंच जाता है और लहर उसे बुझा देती है।

सारी रात यही क्रम चला। प्रातःकाल अब उषा मेरे समान दुखियों का दुःख दूर करने को आलोक लिए आती है तब एक टिमटिमाता दीप किनारे आ लगता है।

अब प्रशस्त प्रकाश फैल गया है और मुझे दीपक की आवश्यकता नहीं। पर मैं उसे सहर्ष उठाकर अपनी कुटी को लौटता हूँ।

पागल पथिक

'पथिक'—मैंने पूछा—'तुम कहां से चले हो और कहाँ जा रहे हो ? तुम्हारी यात्रा तो लंबी मालूम पड़ती है क्योंकि तुम्हारा तन सूख कर काँटा हो रहा है और उस पर का फटा वस्त्र तुम्हारे विदीर्ण हृदय की साख भर रहा है। श्रम से हार कर तुम्हारे पैर फूट फूट कर रक्त के आंसू रो रहे हैं! यह बात क्या है ?'

उसने दैन्य से दाँत निकाल कर उत्तर दिया—'बंधु, मैं अपना मार्ग भूल गया हूं। इस संसार के बाहर एक ऐसा स्थान है जहाँ इसके सुख और विलास की समस्त सामग्रियाँ तो अपने पूर्ण सौंदर्य में मिलती हैं पर दुःख का वहां लेश भी नहीं है। मेरे गुरु ने मुझे उसका ठीक पता बताया था और उसी पर मैं चला था। किंतु मुझसे न जाने कौन सी भूल हो गई

है कि मैं घूम फिर कर बार-बार यही आ जाता हूं। जो हो मैं कभी न कभी वहाँ अवश्य पहुँचूँगा।'

मैंने सखेद कहा—'हाय! तुम भारी भूल में पड़े हो। भला इस विश्व-मंडल के बाहर तुम जा कैसे सकते हो? तुम जहाँ से चलोगे फिर वहीं पहुँच जाओगे। यह तो घटाकार न है। फिर तुम उस स्थान की कल्पना तो इसी के आदर्श पर करते हो और जब तुम्हें इस मूल ही में सुख नहीं मिलता तब अनुकरण में उसे कैसे पाओगे? मित्र, सुख के साथ दुःख तो लगा है और उससे सुख को अलग कर लेने के उद्योग में भी एक सुख है। जब तुम उसे ही नहीं पा सकते तब वहाँ का निरंतर सुख तो तुम्हें एक अपरिवर्तन-शील बोझ नहीं यातना हो जायगी। अरे, बिना नव्यता के सुख कहाँ? तुम्हारी यह कल्पना और संकल्प मिथ्या और निस्सार है, और इसे छोड़ने ही में तुम्हें इतना सुख मिलेगा कि तुम छक जाओगे।'

परंतु उसने मेरी एक न सुनी और अपनी राम-मोटरिया उठाकर चलता बना।

नाटक

[श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी]

नाटक शब्द नट्-धातु से बना है। 'नट्' नाचने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अंग्रेजी में नाटक को ड्रामा कहते हैं। ड्रामा के लिए संस्कृत में नाटक की अपेक्षा रूपक शब्द अधिक उपयुक्त है। ड्रामा का मूल-शब्द इसी अर्थ का द्योतक है। ड्रामा उन रचनाओं को कहते हैं, जिनमें अन्य लोगों के क्रिया कलापों का अनुकरण इस प्रकार किया जाता है कि मानों वे ही काम कर रहे हों। जूलियस सीजर के नाटक में कोई व्यक्ति उसका इस प्रकार अनुकरण करता है, मानो वही जूलियस सीजर है। दूसरों का अनुकरण करना मनुष्य-मात्र का स्वभाव है। बालक अपने माता-पिता का अनुकरण करता है। छोटे लोग अपने बड़ों का अनुकरण करते हैं। नाटकों की उत्पत्ति मनुष्यों के स्वभाव ही से हुई है। एक बात और है। नाटकों में सिर्फ क्रिया-कलापों ही का अनुकरण नहीं होता, मनुष्यों के हृद्गत भावनाओं का भी अनुकरण किया जाता है। यह तभी संभव है, जब हम दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझ लें। यही सहानुभूति है। वह भाव भी स्वाभाविक है। सच

पूछा जाय, तो इसी के आधार पर मानव-समाज स्थित है। यदि यह न रहे, तो मानव समाज छिन्न भिन्न हो जाय। अस्तु, हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि नाटकों का मूल रूप मनुष्यों के अंतर्जगत में विद्यमान है। वाह्य-जगत में उसका विकाश क्रमशः हुआ है।

नाटक में नट दूसरों के कार्यों का अनुकरण करता है। इसीको अभिनय कहते हैं। यह कला है। भावों के आविष्करण को कला कहते हैं। किसी भी कला में नैपुण्य प्राप्त करने के लिए विशेष योग्यता की जरूरत है। इसीलिए, यद्यपि अनुकरण करने को प्रवृत्ति सभी में होती है, तथापि नाट्यकला में दक्ष होना सब के लिए संभव नहीं।

नाटक और नाट्यकला में परस्पर संबंध है। नाटक के लिए नाट्यकला आवश्यक है। परंतु नाटक स्वयं एक कला है, और उसकी उत्पत्ति मनुष्यों के अंतःकरण में होती है। वाह्य जगत में उसको प्रत्यक्ष कर दिखाना नाट्यकला का काम है, नाटकों की गणना काव्य में की जाती है। उन्हें दृश्य काव्य कहते हैं, अर्थात् वे ऐसे काव्य हैं, जिनमें हम कवि की कुशलता का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। यद्यपि रंग-भूमि में कवि नहीं आता, तथापि नटों के द्वारा हम उसकी वाणी सुनते हैं। नाट्यशाला शरीर है, और कवि उसकी आत्मा।

नाटक का प्रधान अंग है चरित्र-चित्रण और व्यक्तित्व

प्रदर्शन। नाटकों में कवि का मुख्य उद्देश यह रहता है कि वह मानव जीवन के रहस्य का उद्घाटन कर उसे शब्दों द्वारा स्पष्ट कर दे। परंतु यह विशेषता केवल नाटकों में ही नहीं पाई जाती।

महाकाव्य, नाटक और उपन्यास, तीनों में ही मानव चरित्र का चित्रण रहता है। पर इनमें बड़ा भेद है। महाकाव्य में एक अथवा एक से अधिक मनुष्यों के चरित्र वर्णित होते हैं। परंतु उनमें चरित्र-चित्रण गौण रहता है। वर्णन ही कवि का मुख्य लक्ष्य होता है। अज-विलाप में इंदुमती की मृत्यु उपलक्ष्य-मात्र है। यह विलाप जैसे अज के लिए है, वैसे ही अन्य भी किसी प्रेमिका के लिए उपयुक्त हो सकता है। प्रियजन के वियोग से जो व्यथा होती है उसी का वर्णन करना कवि का उद्देश था। इंदुमती की मृत्यु के उपलक्ष्य में कवि ने उसीका वर्णन कर दिया। उपन्यास में मनोहर कथा की रचना पर कवि का ध्यान अधिक रहता है। कहानी की मनोहरता उसकी विचित्रता पर निर्भर रहती है। नाटक में महाकाव्य और उपन्यास, दोनों की विशेषताएँ रहती हैं। उसमें कवित्व भी होना चाहिए और मनोहरता भी। इसके लिए कुछ नियम बनाये गये हैं। सब से पहला नियम यह है कि उसमें आख्यान-वस्तु की एकता हो। नाटक का वर्णनीय विषय एक होना चाहिए। उसीको परिस्फुट करने के लिए उसमें अन्य घटनाओं का समावेश किया जाना चाहिए। यदि नाटक का मुख्य विषय

प्रेम है, तो प्रेम के परिणाम में ही उसका अंत होना चाहिए। दूसरा नियम यह है कि उसकी प्रत्येक घटना सार्थक रहे। वे घटनायें नाटक की मुख्य घटना के चाहे प्रतिकूल हों, चाहे अनुकूल, परंतु उससे उसका संबंध अवश्य रहना चाहिए।

नाटकों में अलौकिक घटनाओं का भी वर्णन रहता है। जो लोग नाटकों में स्वाभाविकता चाहते हैं, उन्हें कदाचित अलौकिक घटनाओं का समावेश रुचिकर न होगा। आधुनिक नाटककार इब्सन ने अपने नाटकों में अलौकिक घटनाओं को स्थान नहीं दिया। पर प्राचीन हिंदू-नाटकों में अलौकिक घटनाएँ वर्णित हैं। उदाहरण के लिए कालिदास के अभिज्ञान शाकुंतल को ही ले लीजिए। उसमें दुर्वासा के शाप से दुष्यंत का स्मृति-भ्रम, शकुंतला का अंतर्धान होना, दुष्यंत का स्वर्गारोहण, ये सभी घटनाएँ अलौकिक हैं। शेक्सपियर के नाटकों में भी प्रेतात्मा का दर्शन कराया जाता है। हिंदू मात्र का यह विश्वास है कि मानव जीवन में एक अदृष्ट शक्ति काम कर रही है। उसी शक्ति का महत्व बतलाने के लिए अलौकिक घटनाओं का समावेश किया जाता है। शेक्सपियर भी इस अदृष्ट शक्ति को मानता था। उसने भी कहा है—"There is a tide in the affairs of men" अर्थात् मनुष्य के जीवन में कभी एक ऐसी लहर उठती है, जो उन्हें सफलता के सिरे पर पहुँचाती है और फिर निष्फलता के खंदक में गिरा देती है। दूसरी बात

यह है कि नाटकों में तत्कालीन समाज का चित्र अंकित रहता है। लोगों का जो प्रचलित विश्वास है, उसका समावेश नाटकों में करना अनुचित नहीं। शेक्सपियर के समय में लोग प्रेतों के अस्तित्व पर विश्वास करते थे। इसी प्रकार कालिदास के समय मुनियों के शाप पर लोगों को विश्वास था। अतएव जो नाटकों में यथार्थ चित्रण के पक्षपाती हैं, उनकी दृष्टि में भी ऐसी घटनाओं का समावेश अस्वाभाविक नहीं हो सकता।

नाटक की एक विशेषता और है। उसमें घटनाओं का घात-प्रतिघात सदैव होता रहता है। नाटकीय मुख्य चरित्र की गति सदैव वक्र रहती है। जीवन-स्रोत एक ओर बहता है। धक्का खाते ही उसकी गति दूसरी ओर पलट जाती है। फिर धक्का लगने पर वह तीसरी ओर बहने लगता है। नाटक में मानव-जीवन का एक रूप दिखलाना पड़ता है।

उच्च श्रेणी के नाटकों में अंतर्द्वंद्व दिखलाया जाता है। मनुष्यों के अंतःकरण में सदा दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के बीच युद्ध छिड़ा रहता है। यह बात नहीं कि सदा धर्म और अधर्म अथवा पाप और पुण्य में ही युद्ध होता हो, कभी कभी सत्प्रवृत्तियां भी एक दूसरे का विरोध करने लगती हैं। भवभूति के उत्तर रामचरित्र में रामचंद्र के दृश्य में, दो सत्प्रवृत्तियों का ही अंतर्द्वंद्व प्रदर्शित किया गया है। एक ओर राजा का कर्तव्य है, और दूसरी ओर पति का कर्तव्य। आधुनिक नाट्य-साहित्य

में इब्सन के एक नाटक 'An enemy of the people' में एक मनुष्य संसार की कल्याण कामना से संसार के ही विरुद्ध लड़ा है।

पाश्चात्य नाटकों के दो विभाग किये गये हैं। ट्रेजेडी और कमेडी। ट्रेजेडी दुःखांत नाटक को कहते हैं, और कमेडी सुखांत को। प्राचीन हिंदू साहित्य में दुखांत नाटक एक भी नहीं है। हिंदू-नाट्य-शास्त्र के आचार्यों की आज्ञा थी कि नाटकों का अंत दुःख में न होना चाहिए। यदि नायक पुण्यात्मा है तो पुण्य का परिणाम दुःख नहीं हो सकता। पुण्य की जय और पाप की पराजय ही दिखलानी चाहिये। अधर्म की जय दिखाने से डर रहता है कि लोगों पर कहीं उसका बुरा प्रभाव न पड़े, वे अधार्मिक न हो जायँ। हम इस नियम को अच्छा नहीं समझते; क्योंकि जीवन में प्रायः अधर्म की ही जय देखी जाती है। यदि यह बात न होती, तो संसार में इतनी क्षुद्रता और स्वार्थ न रहता। यदि धर्म की अंतिम जय देखने से लोग धार्मिक हो जायँ, तो धार्मिक होना कोई प्रशंसा की बात नहीं। हम तो यह देखते हैं कि जो संसार में धर्म का अनुसरण करते हैं, सत्पथ से विचलित नहीं होते, वे मृत्यु का आलिंगन करते हैं, और असत्पथ पर विचरण करने वाले सुख से रहते हैं। बात यह है कि धर्म का पथ श्रेयस्कर होता है, सुखकर नहीं। जो पार्थिव सुख और समृद्धि के इच्छुक हैं, उनके लिए धर्म का पथ अनुसरण करने योग्य नहीं, क्योंकि यह पथ सुख की ओर नहीं,

कल्याण की ओर जाता है। नाटकों में धर्म की पराजय बतलाने से उनकी हीनता नहीं सूचित हो सकती। धर्म धर्म ही रहता है। दुःख और दारिद्र की छाया में रहकर भी पुरुष गौरवान्वित होता है। पृथ्वी में पराजित होने पर भी वह अजेय रहता है। कुछ भी हो; भारतवर्ष के आधुनिक साहित्य में दुःखान्त नाटकों की रचना होने लगी है। इसमें संदेह नहीं कि कमेडी की अपेक्षा ट्रेजेडी का प्रभाव अधिक स्थायी होता है। इसलिए नाट्य-शालाओं में इनका अभिनय अधिक सफलता पूर्वक हो सकता है। परंतु आजकल दुःखांत नाटकों का प्रचार कम हो गया है। कुछ समय पहले इँगलैंड में म्युजिकल कमेडी का, जिसमें हँसी दिल्लगी और नाचगान की प्रधानता रहती है, खूब दौर दौरा रहा। अबभी उसका अच्छा स्थान ही है।

हिंदू-साहित्य-शास्त्रकारों ने यह नियम बना दिया है कि नाटक के नायक को सब गुणों से युक्त और निर्दोष अंकित करना चाहिए। कुछ विद्वानों की राय है कि यह नियम बड़ा कठोर है। इससे नाटक-कार का कार्य-क्षेत्र बड़ा संकुचित हो जाता है। किंतु हिंदू साहित्य शास्त्र में नाटक के नायकों को दोष-शून्य अंकित करने का जो विधान है, उसका एक मात्र उद्देश्य यही है कि नाटकों का विषय महत् हो। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत नाटकों में राजा अथवा राजपुत्र ही नाटक के नायक बनाये गए हैं। नायकों के चार भेद किये हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत,

धीर-ललित और धीर-प्रशांत। इन नायकों में भिन्न भिन्न गुणों का प्रदर्शन कराया जाता है। आधुनिक नाट्य साहित्य में इस नियम की उपेक्षा की गई है। अब तो मजदूर, कैदी और पागल तक नायक के पद पर अधिष्ठित हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि अब नाटकों में व्यक्तित्व प्रदर्शन पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

आधुनिक नाट्य-साहित्य की एक विशेषता उसका आदर्श भी है। वर्तमान साहित्य के आदर्श से उन सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिनके कारण सर्वत्र अशांति फैली हुई है। कुछ विद्वानों का कथन है कि आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में रोमेंटिक युग का अंत होगया, और अब रियलिस्टिक साहित्य का आरंभ हुआ है। योरप के आधुनिक साहित्य में तीन आदर्श स्वीकृत हुए हैं— रियलिस्ट—आइडियलिस्ट और रोमेंटिसिस्ट। पहले हम इनका मतलब बतला देना चाहते हैं। संसार में जो घटनाएँ प्रतिदिन होती हैं, उनका यथार्थ चित्रण करना रियलिस्टिक कला-कोविदों का काम है। ऐसे लेखकों की रचना पढ़ते समय यही जान पड़ता है, मानो हमने यह दृश्य स्वयं कहीं देखा है। यही नहीं, किंतु उसके पात्रों के चरित्र में हम अपने परिचित व्यक्तियों के जीवन का सादृश्य देख लेते हैं। ऐसे लेखकों में जोला नामक एक फ्रेंच लेखक का स्थान सर्वोच्च माना गया है। आइडियलिस्टिक

लेखक एक आदर्श चरित्र के उद्भावन की चेष्टा करते हैं कि उससे एक अपूर्व चित्र खिल उठता है। वह चित्र पाठकों की कल्पना पर प्रभाव डालता है। वे अपने अनुभव द्वारा कवि के आदर्श की उच्चता स्वीकार कर लेते हैं। ऐसे लेखक सत्य का बहिष्कार नहीं करते। वे संसार की दैनिक घटनाओं से ही अपनी कथा के लिये सामग्री का संग्रह करते हैं। परंतु उनकी कृति में घटनाओं का ऐसा विन्यास किया जाता है कि पाठक उसे प्रत्यक्ष देखने की इच्छा करें। पाठकों के मन में यही बात उदित होती है कि हमने ऐसा देखा नहीं है, परंतु देखना अवश्य चाहते हैं। विक्टर ह्यूगो इसी श्रेणी के लेखक हैं। रोमेंटिक साहित्य कल्पना की सृष्टि है। वह प्रकृति से अतीत है। बैलजक की रचना में कल्पना की ऐसी ही लीला दृष्टिगोचर होती है। आधुनिक नाट्य साहित्य में समाज के यथार्थ चित्रण का खूब ख्याल रक्खा जाता है। ऐसे नाटकों का आरंभ इब्सन ने किया है। उनमें सामाजिक जीवन का यथेष्ट परिपाक हुआ है। तो भी उनमें समाज के भविष्य विकास का आभास पाया जाता है। अतः जो लोग यह कहते हैं कि आधुनिक साहित्य में रियलिज्म की प्रधानता है, उनकी बात स्वीकार नहीं की जा सकती। बात यह है कि जिस प्रकार वर्तमान युग में राष्ट्रीय जीवन भूत, भविष्य और वर्तमान को एकत्र कर अग्रसर हो रहा है, जिस प्रकार वह अतीत को वर्तमान में संजीवित करके उसको

भविष्य की ओर ठेल रहा है, उसी प्रकार साहित्य में भी सभी आदर्शों को एकत्र करने की चेष्टा की जा रही है। आधुनिक साहित्य का मुख्य उद्देश यही जान पड़ता है कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य की रक्षा करके समाज के साथ उसका संबंध स्थापित करदें। वर्तमान काल की सभ्यता के अंधकारमय भाग पर परदा डालने की चेष्टा अवश्य नहीं की जाती; पर उसी के साथ यह बात भी प्रकट कर दी जाती है कि वह ज्योतिर्मय किस प्रकार हो सकता है।

आजकल मनुष्यों के मानसिक भावों में एक बड़ा परिवर्तन हो गया है। पहले की तरह देश-काल में आबद्ध होकर वे संकीर्ण विचारों के नहीं हो गये हैं। उनमें यथेष्ट स्वतंत्रता आगई है। पहले मनुष्यों की जैसी प्रवृति थी, उनमें प्रेम, घृणा आदि भावों का जैसा संघर्षण होता था, वही लीला हम शेक्सपियर आदि नाटककारों की रचनाओं में देखते हैं। परंतु अब यह बात नहीं है। आजकल युवावस्था की उद्दाम वासना और प्रेम व्यक्त करने के लिये हमें 'रोमियो-जूलियट' अथवा 'एंटोनी-क्लियापेट्रा' की सृष्टि नहीं करनी होगी। उनसे हमारा काम भी नहीं चलेगा। आज कल मनुष्य की भोग-लालसा के साथ ही एक सौंदर्य-वृत्ति है, जिनमें समाज-बोध और अध्यात्म-बोध का मिश्रण होगया है। उनके हृदय का आवेग रोमियो अथवा ओथेलो के समान सरल नहीं है; वह बड़ा जटिल हो गया है। क्राइम ऐंड पनिशमेंट-नामक उपन्यास में एक खूनी का चरित्र

अंकित किया गया। अंत तक यह नहीं जान पड़ता कि वह खूनी दानव है कि देवता। उसमें विपरीत भावों की अभिव्यक्ति इस तरह हुई है कि उसे हम यदि हत्याकारी मानें, तो भी उसमें दिव्य भावों की प्रधानता मालूम पड़ेगी। जार्ज मेरेडिथ के 'दी इगोइस्ट' नामक उपन्यास का नायक सचमुच कैसा था, यह न तो वह जान सका, और न उसके साथी ही। उपन्यास-भर में उसके चरित्र की इसी जटिलता का विश्लेषण किया गया है। रवींद्र बाबू के 'घरे-बाहिरे' नामक उपन्यास में संदीप जैसा इंद्रिय-परायण है, वैसा ही स्वदेश-वत्सल और वीर भी। इब्सन, मेटरलिंक अथवा रवींद्रनाथ की कुछ प्रधान नायिकाओं के चरित्र ऐसे अंकित हुए हैं कि जब हम अपने संस्कारों के अनुसार उन पर दृष्टिपात करते हैं, तो उनके चरित्र में हीनता देखते हैं; परंतु सत्य की ओर लक्ष्य रखने से यही कहना पड़ता है कि हम उन पर अपनी कोई सम्मति नहीं दे सकते।

हिंदू नाटकों की उन्नति प्राचीन काल ही में हो गई थी। मध्य एशिया में उपलब्ध एक ताड़पत्र के ग्रंथ से विदित होता है कि कुशन राजों के काल में ही—जब मध्य एशिया भारतीय-साम्राज्य के अंतर्गत था—हिंदू नाटकों की श्री-वृद्धि हो गई थी। छठी शताब्दी में हिंदू लोग जावा द्वीप में बस गये थे। वहाँ के छाया-नाटकों को देखकर हम जान सकते हैं कि हिंदू नाटकों का कितना प्रभाव उनपर पड़ा है। बर्मा, स्याम और कम्बोडिया में

भी रंगमंच पर राम और बुद्ध के चरित्रों का अवलंबन करके लिखे गये नाटक खेले गये हैं। रामावतार का अभिनय तो मलाया-द्वीप-समूह में ही नहीं, चीन तक में किया गया था।

हिंदू-नाटकों की इस श्री वृद्धि का कारण यह है कि हिंदू मात्र की दृष्टि में नाटकों का धार्मिक महत्व है। योरप में नाट्यशालाओं के प्रति अनेक बार घृणा प्रदर्शित की गई। उन का प्रचार भी रोका गया। धार्मिक ईसाई का यह विश्वास था कि लोगों को पाप पथ पर ले जाने के लिये ही शैतान ने इन आमोद-प्रमोदों की सृष्टि की है। रोम में नाटक-खेलने वालों का कुछ भी आदर नहीं होता था। चीन में उनकी संतानों को यह अधिकार न था कि वे परीक्षाओं में बैठ सकें। पर हिंदू लोग नाट्यशास्त्र को पंचम वेद मानते हैं। उनका विश्वास है कि भरत मुनि ने संसार के कल्याण के लिए उनका आविष्कार किया है।

सबसे प्राचीन नाट्य-शास्त्र भरत मुनि का ही है। पाणिनि के समय में भी नाट्यशास्त्र प्रचलित थे। उन्होंने दो आचार्यों का उल्लेख किया है—शिलालिन और कृशाश्व। पतंजलि के समय में भी नाटक खेले जाते थे। उनके महाभाष्य में कंस-वध और बलि बंधन के खेले जाने का साफ साफ उल्लेख है।

हिंदू नाट्य-साहित्य का प्राचीनतम रूप देखने के लिये हमें वेदों की आलोचना करनी चाहिए। ऋग्वेद के कई सूक्तों में कुछ संवाद हैं—जैसे यम और यमी का संवाद, पुरूरवा और

उर्वशी का संवाद इत्यादि। इनकी गणना हम नाटकों में कर सकते हैं। पुरूरवा और उर्वशी का संवाद ही पुराणों में, कथा-रूप में, विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है, और उसे ही कालिदास ने नाटक का रूप दिया है। जान पड़ता है, पहले पहल नाटकों में सिर्फ संगीत ही रहता था। पीछे से उनमें संवाद (अर्थात् भाषण या कथोपकन) जोड़े गये हैं। फिर, इसके अनंतर, कदाचित उनमें कृष्ण-चरित का समावेश किया गया है। कुछ भी हो, इसमें तो संदेह नहीं कि बहुत प्राचीन काल में ही नाटकों का अभिनय होने लगा था।

हिंदू नाटककार कार्यों और विचारों का खूब ख्याल रखते थे। उनके मर्मवाद ने सभी नाटकों की घटनाओं को कार्य-कारण की शृंखला में बाँध रक्खा है। हिंदू-साहित्य में संयोगांत और वियोगांत नाटक अलग-अलग नहीं हैं। उनमें हर्ष और शोक के भाव मिश्रित रहते हैं। रंग-भूमि में अत्यंत शोकोत्पादक अथवा विकार-वर्द्धक दृश्य नहीं दिखलाये जाते थे; क्योंकि ऐसा करने से मन विकृत हो जाने का डर था। शोक की उपेक्षा नहीं की जाती थी; पर जोर इस बात पर दिया जाता था कि शोक का सहन त्याग से किया जाना चाहिए संसार जिन नियमों से बँधा है, वे हम लोगों के लिए श्रेयस्कर हैं।

प्रत्येक नाटक के आरंभ और अंत में आशीर्वादात्मक श्लोक रहते हैं। उनका विषय प्रायः धार्मिक ग्रंथों से लिया जाता है।

ग्रीक नाट्यकार, जर्मन कवि और अंग्रेज शेक्सपियर आदि चरित्र-चित्रण में ही अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। उनका विषय है मनुष्य। हिंदू नाटककारों का विषय है प्रकृति। उनके लिए प्रकृति ही यथार्थ में शिक्षा देने वाली है। यही कारण है कि हिंदू नाटक प्रकृति संबंधी उत्सवों में देखे जाते थे, अधिकतर वसंत के उत्सव में जब विश्व-प्रकृति का नवजीवन आरंभ होता है। बिना दुःख के, बिना तपस्या के पवित्रता नहीं आती। बिना आत्मत्याग के आत्मोन्नति नहीं होती। हिंदू नाटकों में यही भाव स्पष्ट करके दिखाया गया है।

कभी हमारे देश में नाटकों का बड़ा आदर था। नाटक खेलने वाले नटों और नटियों की अच्छी प्रतिष्ठा की जाती थी। इतना ही नहीं उच्चकुल के स्त्री पुरुष भी नाट्य कला में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए चेष्टा करते थे। उनमें अभिनय कला की परीक्षा देने के लिये योग्य शिक्षक नियुक्त किये जाते थे। कालिदास के मालविकाग्नि-मित्र-नाटक से ये सब बातें विदित होती हैं। अब नाटक-कला का पुनरुद्धार हो रहा है। महाराष्ट्र और बंगाल में अच्छी अच्छी नाटक मंडलियाँ हैं, और उनमें अच्छे अच्छे नाटक खेले जाते हैं।

जिन्होंने दूसरे देशों में नाटकों का अभिनय देखा है, वे जब भारतीय नाट्यशालाओं में प्रवेश करते हैं तब वहां की भद्दी सजावट देखकर विस्मित हो जाते हैं। यहां विदेशी दृश्यों

को नकल तो जरूर की जाती है, पर सारा सामान इतना बेढँगा रहता है कि योरप की छोटी छोटी नाट्यशालाओं में भी इतनी बेढँगी चोजें नहीं रहतीं। जो लोग भारतवर्ष में नाटकों के लिए परदे रंगते हैं, वे विदेशी नाटकों का अनुकरण करते हैं। परंतु विदेशी समाज से अनभिज्ञ रहने के कारण वे उनका रूप बिलकुल विकृत कर डालते हैं। अपनी अज्ञता के कारण जनता उन्हीं से संतुष्ट हो जाती है। इनसे भी भद्दी होती है भारतीय नटों की वेष-भूषा। जो लोग राजा, सामंत, राजसेवक आदि का अभिनय करते हैं, उनकी पोशाक विलक्षण होती है। हम नहीं समझते कि भारतियों में कभी वैसे परिच्छद काम में लाए गये होंगे। हमें आशा है, भविष्य में भी कोई वैसी भद्दी पोशाक नहीं पहनेगा। गनीमत यही है कि स्त्री-पात्रों में भारतीयता की रक्षा की जाती है। अपना वेष बदलने के लिए भारतीय नट चेहरे पर पाउडर लगा कर निकलते हैं। हम नहीं समझ सकते कि अपने चेहरे पर सफेदी लाने की यह विफल चेष्टा क्यों की जाती है।

भारतीय रंगमंच के दोष बिलकुल स्पष्ट हैं। इनसे नाटक का महत्व घट जाता है और उनका उद्देश निष्फल हो जाता है। इन दोषों के दूर करने की चेष्टा की जानी चाहिए। नाटकों में जिस युग का वर्णन है, उसी के अनुरूप दृश्य दिखलाए जायँ। भारतीय रंगभूमि में जब किसी सड़क अथवा महल का दृश्य

दिखाया जाय, तब वेनिस के स्थान में जयपुर का दृश्य दिखलाना अधिक उचित होगा। भारतवर्ष के नाटककार भी अपने नाटकों के दृश्य की बिलकुल उपेक्षा करते हैं। कैसा भी दृश्य हो काम निकल जाता है। हमारी समझ में इससे तो बेहतर यही होगा कि परदों का कोई झमेला ही न रहे। दर्शक कथा-भाग सुन कर अपने मन ही में दृश्यों की कल्पना करलें। प्राचीन काल में जब परदों का प्रचार नहीं था, तब ऐसा ही होता था।

भारतीय नाटकों में पात्रों के लिये उचित वेष-भूषा तैयार करने के लिये विशेष योग्यता की जरूरत नहीं है। जरा भी बुद्धि से काम लेने से यह बात समझ में आसकती है कि किसके लिये कौन सा परिच्छद उपयुक्त है। परंतु आज कल तो सभी नाटक मंडलियाँ अपने नटों को घुटने तक ब्रीचेस पहनाकर, भड़कीला कोट डटाकर निकालना चाहती हैं। नकली दाढ़ी और मूछ से चेहरे को विकृत करना इसलिये आवश्यक समझा जाता है कि दर्शक नटों को पहचान न सकें। परंतु सर स्कायर बैनक्राफ्ट के समान प्रसिद्ध नट भी अपने यथार्थ रूप में रंग मंच पर आने में नहीं हिचकते।

भारतीय नाटकों की कई विशेषतायें हैं। यदि नाटककार और नट अपने अभिनय में भारतीयता का ख्याल रक्खें तो उससे बड़ा लाभ हो। रवींद्रनाथ का एक नाटक 'डाकघर' कलकत्ते में खेला गया था। उसमें भारतीयता का ख्याल रक्खा गया था। इससे उसे सफलता भी अच्छी हुई।

हिंदी के कुछ नाटककार संगीत के ऐसे प्रेमी हैं कि वे मौके-बे-मौके अपने पात्रों से गाना ही गवाया करते हैं। राजा की कौन कहे राज-महिषी तक अपने पद का गौरव भूलकर नाचने-गाने लग जाती हैं। राजसभा तो बिलकुल संगीतालय ही हो जाती है। यह भी खेद की बात है।

कवि और कविता

[श्री गुलाबराय]

मानव प्रकृति में जड़ और चेतन दोनों ही प्रकृतियों का योग रहता है। मनुष्य की जड़ प्रकृति उसको अन्य जड़ पदार्थों की भांति नियम के बंधन में जकड़े रखती है और उसकी आध्यात्मिक प्रकृति अपनी स्वातंत्र का परिचय देती हुई, उसको नियम और कार्य्य-कारण शृंखला से ऊँचा ले जाती है। इसी आध्यात्मिकता में उसके विकास को आस भरी रहती है। यह आध्यात्मिक प्रकृति जड़ संसार को भी प्रभावित कर उसे सौंदर्यमय बनाती है। यही उसे काव्य और कला का मूलाधार बनाती है। यद्यपि समस्त मानवीय क्रियाओं में आध्यात्मिकता का अंश रहता है तथापि कुछ में इसका विशेष रूप से विकाश देखा जाता है। वाह्य पदार्थों द्वारा आत्मिक भावोंके व्यंजनको ही कला कहते हैं। कला द्वारा प्राकृतिक पदार्थ आध्यात्मिकता धारण कर लेते हैं और आत्मात्मिक भाव संसार में मूर्तिमान दिखाई पड़ने लगते हैं! कला में चेतन संसार की जड़ संसार के ऊपर विजय लाभ की घोषणा रहती है। जैसे जैसे यह विजय प्रकाश को प्राप्त होती है, वैसेही कलाकी भी उन्नति होती जाती है।

उन्नत कलाओं में आध्यात्मिकता का विकास अधिक दिखाई पड़ने लगता है। उनमें चेतन जड़को अपने शासन में लाकर पूर्णतया अपने अनुकूल बना लेता है। सामग्री पर विजय प्राप्त करने और उसको पूर्णतया अपने वशीभूत करने और उसके वशीभूत न होने में ही कला की उन्नति का परिणाम है। पूर्ण उन्नत कलामें आध्यात्मिक-भाव बिना किसी रुकावट के प्रस्फुटित हो जाते हैं। इस परिणाम से हैगिल ने कलाओं में काव्य को सबसे उच्च स्थान दिया है। सामग्री से स्वतंत्र होने का आदर्श अपने यहां बहुत प्राचीनकाल से वर्तमान है। श्रीमम्मटाचार्य्य ने कवि की भरती की प्रसंशा करते हुए काव्य को स्वतंत्र और आनंदमय बतलाया है :—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैक-मयी-मनन्य परतंत्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

अर्थात् नियति (भाग्य) के नियमों के बंधन से रहित, केवल आनंद से ही भरपूर, दूसरे की वश्यता से रहित, नव रसों से सुशोभित कवि की वाणी की जय होय।

इस पद्य में जो विशेषण आए हैं, वे काव्य की उच्चता के कारण-स्वरूप हैं। और, हैगिल ने जो काव्य को कलाओं में सर्व श्रेष्ठ स्थान दिया है वही इस अनन्य-परतंत्रता के आधार पर है। इस पद्य में कवि की रचना को ब्रह्मा की रचना से प्रधानता दी गई है। ब्रह्मा की रचना भाग्य के नियमों पर निर्भर रहती

है किंतु कवि की रचना ऐसे बंधनों से मुक्त है। वास्तव में कविता अनन्य-परतंत्रा होने के कारण सब बंधनों से मुक्त है। काव्य में आत्मा का पूर्ण प्रभाव प्रकाशित होता है। बाह्य सामग्री का आश्रय और बंधन नहीं रहता। केवल स्वातंत्र और आनंद का प्रसार होता है। आत्मा नियति के बंधनों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होती है किंतु कठिनता के साथ। जब तक उन बंधनों का प्रभाव रहता है तब तक गति कुंठित सी रहती है। काव्य के संसार में आत्मा की गति अकुंठित हो जाती है। नियम के बंधनों से मुक्त होने का अर्थ उच्छृंखलता नहीं; उसमें शृंखला रहती है। किंतु वह लोहे की जड़ नहीं, वरन् भावों की चेतन शृंखला है, जिसको प्राकृतिक नियमों का भार नहीं तोड़ सकता। यह शृंखला देश और काल के परिणाम से संकुचित नहीं होती, वरन् उसका प्रसार आकाश से पाताल तक व्याप्त हो जाता है। इस स्वतंत्रता में नियम विरुद्धता नहीं वरन् आत्मा का उल्लास और विकास भरा हुआ है। काव्य उसी आध्यात्मिक स्वतंत्रता के प्रभाव का फल है जो जड़ नियमों के प्रस्तर खंडों को तोड़ कर स्वच्छंद रूप से प्रवाहित होने का सामर्थ्य रखता है; यदि वह नियमबद्ध है तो वह नियम दूसरों के आश्रित नहीं। काव्य छंद के नियमों से बंधा हुआ बतलाया जाता है किंतु यह छंद के नियम बाहरी नहीं हैं। काव्य उन नियमों का अनुकरण नहीं करता, वरन् यह नियम

काव्य की गति के वर्णन स्वरूप हैं। छंद के नियम आत्मा की स्वतंत्र स्पंदन गति के क्रम को बतलाते हैं। वह क्रम जीवन के प्रवाह से निकलता है और उसके काले अक्षरों में प्रस्तरीभूत हो जाने पर ही वह नियम के शासन में आता है, ऐसी ही स्वतंत्रता सौंदर्य के आनंद से भर पूर रह कर स्थायित्व धारण करती है। जहांपर गति कुंठित होती है, अभिलाषा की अपूर्णता रहती है और महत्वाकांक्षाएँ संकुचित हो जाती हैं वहीं पर आनंद का ह्रास होता है। किंतु जहां पर जीवन रस का प्रवाह अकुंठित रूप से बहता रहता है, वहां पर आनंद का ही साम्राज्य है। काव्य उसी जीवन प्रवाह का एक उत्तम फल है। वह फल कैसा है? उसका रंग रूप स्वाद और स्पर्श आदि कैसा है? इसको आगे चल कर बतलायेंगे। काव्य क्या है, इसका उत्तर देना बहुत ही कठिन है; किंतु इसके संबंध में जो कुछ आचार्यों के मत हैं, वे यहाँ संक्षेप से दिये जाते हैं :—

यह मत पांच हैं—

(१) अलंकार को काव्य की आत्मा माननेवाले।
(२) ध्वनि को काव्य की आत्मा माननेवाले।
(३) रीति को काव्य की आत्मा माननेवाले।
(४) वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माननेवाले।
(यह एक प्रकार से पहले ही मत के अंतर्गत है)
(५) रस को काव्य की आत्मा माननेवाले।

इन विशेष मतों के पारस्परिक मूल्य पर हम वाद-विवाद न करके सिद्धांत रूप से यह कहना आवश्यक और उचित समझते हैं कि काव्य की आत्मा रस है। रस लोकोत्तर आनंद को कहते हैं।

काव्य एक पुरुष है, जिसका शरीर शब्द और अर्थ है। ध्वनि और रस उसके प्राण हैं। प्राण से ही जीवन का कार्य चलता है। किंतु आत्मा उससे ऊँची है। काव्य-शरीर में आत्मा का काम रस करता है। आत्मा के बिना प्राण भी कुछ नहीं कर सकते हैं। आत्मा की सत्ता से ही प्राण काम करते हैं। रस के होते हुए भी ध्वनि काव्य को सजीव बनाती है। माधुर्यादि उसमें गुण हैं। ये गुण उसके उत्कर्ष को बढ़ाने के कारण होते हैं। मनुष्य तो सभी होते हैं; किंतु शीलवान मनुष्य का और ही मान होता है। इसी प्रकार माधुर्यादि गुणों से मंडित काव्य आदरणीय होते हैं। किंतु यह गुण सजीव काव्य में ही रह सकते हैं। गुणों का आत्मा से विशेष संबंध है, जैसे अलंकारों का शरीर से। शब्द और अर्थ शरीर हैं; इसीलिए अलंकार शब्द और अर्थ दोनों के ही हैं। अलंकार आभूषण का काम करते हैं। जो सुंदर वस्तु है उसकी सुंदरता को बढ़ा देते हैं; किंतु वह सौंदर्य का स्थान नहीं ले सकते। वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली आदि रीतियां जो गुणों से विशेष संबंध रखती हैं, काव्य शरीर का सुसंगठन करती

हैं। इसी संगठन के ऊपर काव्य-शरीर का सौंदर्य निर्भर है। जैसे मनुष्य में कोई काना या बहरा होता है। यह दोष उसके गुणों को घटाने वाले होते हैं—ऐसे ही काव्य में श्रुतिकटु आदि दोष होते है। ये उसके गुणको घटाते हैं। इसमें काव्य पुरुष का पूरा स्वरूप कहा गया है। इसका रस ही आत्मा है और जैसे आत्मा के साथ प्राण रूप गुण अलंकार आदि लगे हुए हैं, वैसे ही ध्वनि रीति और अलंकार लगे हुए हैं।

काव्य के कारण—

नीचे की कारिका में काव्य का हेतु दिया गया है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्
काव्यज्ञ-शिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।

अर्थात्, शक्ति, निपुणता जो कि लोकशास्त्र और काव्य को देखने से प्राप्त होती है और काव्यज्ञ की शिक्षा द्वारा अभ्यास—यह तीनों काव्य के उदय में कारण माने गये हैं। यह तीनों अलग अलग नहीं हैं, वरन तीनों मिलकर एक कारण हैं। इसलिए हेतु शब्द का जो एक बचन है, प्रयोग किया गया है।

शक्ति—

शक्ति की इस प्रकार परिभाषा की गई है,—

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः

कविता के बीजरूप संस्कार को शक्ति कहते हैं।

प्रत्येक मनुष्य में कुछ नैसर्गिक झुकाव रहते हैं। जिसमें कविता करने का नैसर्गिक झुकाव होता है वही कवि बन सकता है। इसीलिये कहा गया है कि कवि पैदा होते हैं, बनाये नहीं जाते। यही नैसर्गिक शक्ति कविको और लोगों से विशेषता देती है। इसके बिना इतिहास विज्ञान केवल वर्णनात्मक रह जाते हैं। यही शक्ति कवि की प्रतिभा का कारण होती है। अभ्यास और शास्त्र ज्ञान इसको दीप्त कर सकते हैं; किंतु इसके अभाव में न शास्त्र-ज्ञान ही काम देगा और न अभ्यास। यह प्रतिभा एक अलौकिक वस्तु है जो जन्म से ही सिद्ध होती है। इसीलिए प्रत्येक मनुष्य कवि नहीं बन सकता। अभ्यास और नियमों के आधार पर की हुई कविता प्रायः निर्जीव होती है। सजीव कविता वही होती है जो हृदय के स्रोत से आवेग के साथ प्रवाहित होती है। कविता का आरंभ भी हृदय की एक मार्मिक वेदना सें हुआ है। आदि कवि वाल्मीकि जी के शोकोद्वेग से इस प्रथम श्लोक की आविर्भूति हुई :—

मानिषाद प्रतिष्ठाम् त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंच मिथुनोदेकमवधीः काममोहिताम्॥

शक्ति का रुद्रट ने इस प्रकार लक्षण दिया है :—

मनसि सदा सुसमाधिनी विस्फुरणमनेक्यधाभिधेयस्य।
अक्लिष्ठानि पदानिच विभांति यस्यामसौ शक्तिः॥

अर्थात्, शक्ति वह है जिसके द्वारा मन स्थिर होकर अनेक

प्रकार के अर्थों का स्फुरण करता है और जिससे कठिनता रहित पदों का प्रकाश होता है, वह शक्ति कहलाती है। संक्षेप से शक्ति कवि की उस सूझ को कहते हैं, जिसके द्वारा नये नये अर्थ, उक्तियाँ और बारीकियाँ उदय होने लगती हैं, उन्हीं के अनुकूल अच्छे अच्छे पद उपलब्ध हो जाते हैं और छंदःशास्त्र के नियम अध्ययन से आ जाते हैं। अभ्यास परिश्रम साध्य है, किंतु शक्ति स्वाभाविक ईश्वरदत्त पदार्थ है। यह बहुत दुर्लभ है, ऐसा कहा भी गया है :—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र च दुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सु दुर्लभा॥

निपुणता—

यद्यपि प्रतिभा काव्य के लिये परम आवश्यक है तथापि विना सामग्री के केवल प्रतिभा फलवान नहीं होती। इस सामग्री में लोक अर्थात् देशदेशांतरों को जलवायु रीतिरिवाज रहन-सहन का परिज्ञान, शास्त्र अर्थात् इतिहास पुराण आदि का जानना और काव्य के नियमों से परिचय आदि सब बातें सम्मिलित हैं। इसमें अपना अनुभव और निरीक्षण भी सम्मिलित समझना चाहिये। क्योंकि जो बात अपने अनुभव से प्राप्त होती है, वह शास्त्र के अध्ययन से नहीं होती। क्योंकि अपने अनुभव पर पूर्ण अधिकार रहता है और शास्त्र का ज्ञान दूसरे का ही अनुभव होता है।

अभ्यास—

अभ्यास भी एक आवश्यकीय वस्तु है। शक्ति और निपुणता के होते हुए अभ्यास विना काम नहीं चलता। अभ्यास में साहित्य की मर्मज्ञता की आवश्यकता है। यद्यपि काव्य नियम के बंधनों से बंधा हुआ नहीं है तथापि नियमों का ज्ञान अनवधानता से किये हुए दोषों को परिमार्जित कर देता है। काव्य जहाँ तक अदोष रहे उतना ही अच्छा है।

काव्य का फल और उद्देश्य—

काव्य से धर्म अर्थ काम मोक्ष सभी की प्राप्ति बतलाई गई है किंतु उन सब में आनंद मुख्य है। देखिये—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्य निषेवणम्॥

अर्थात्, अच्छे काव्य के सेवन से धर्म अर्थ काम मोक्ष चतुर्वर्ग की प्राप्ति होती है। कलाओं में विचक्षणता आती है। काव्य कीर्ति और प्रीति को उत्पन्न करता है।

काव्य प्रकाश में यही बात इस प्रकार बतलाई गई है :—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहार-विदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कांता सम्मित तयोपदेश युजे॥

काव्य के छ प्रयोजन हैं—(१) यशलाभ, (२) धनलाभ, (३) व्यवहार का ज्ञान, (४) अमंगल से रक्षा, (५) तुरंत परमानंद की प्राप्ति और (६) कांता के समान प्रेममय उपदेश।

यश—

कालिदास आदि ने यश का अर्थ काव्य किया है। यशेप्सा मनुष्यजाति में स्वाभाविक है। यशको धन से प्रधानता इसी लिये दी गई है कि धन चिरस्थायी नहीं होता। केशव भूषणादि ने जो धनोपार्जन किया वह अतीत के सागर-तल में विलीन हो गया, किंतु उनकी अक्षय कीर्ति अभी तक वर्तमान है। कवि की कीर्ति ही उसको अमर बनाती है।

आजकल जो हिंदी साहित्य-सेवा हो रही है वह प्रायः यश के लिये हो रही, किंतु उसमें यह नहीं जो यशेप्सी कवियों की कविता में होती है। वास्तव में कवि लोग यशेप्सी नहीं होते, वरन् यश उनको अपने आप प्राप्त होता है। महात्मा तुलसीदास जी ने रामचरितमानस यश के लिये नहीं लिखा, वरन् स्वांतः सुखाय। किंतु उनके यश का सूर्य और कवियों के यश को मंदीभूत कर रहा है। केवल यश को लक्ष्य करके लिखना प्रायः उतना ही बुरा है जितना धन को अपना परम-ध्येय बनाना। अपने विचारों को भली भांति प्रकट कर लेना ही लेखक का अंतिम उद्देश्य होना चाहिये। साहित्य में निष्काम कर्म की बड़ी आवश्यकता और बड़ा महत्व है।

धन-लाभ—

धन भी यश की भाँति एक वांछित पदार्थ है। किंतु धन पानेवालों को समाज में इतना सम्मान नहीं मिलता जितना

निस्वार्थ सेवक को। केवल धनके लिये जो काव्य रचना की जाती है, उसमें वह सजीवता नहीं रहती जो कि स्वांतः सुखाय लिखी जाने वाली कविताओं में रहती है।

यद्यपि विना धन के काम नहीं चलता और यश से पेट भी नहीं भरा जाता; किंतु तो भी धन को मुख्य लक्ष्य बनाना उचित नहीं। जहाँ पर धन लक्ष्य बना लिया जाता है, वहाँ पर काव्य में शैथिल्य आ जाता है; क्योंकि धन-लोलुप का अभीष्ट पन्ने रंगने का रहता है। वह अपनी रचना को सर्वोत्तम बनाने के लिये नहीं ठहर सकता। यदि प्रकाशक स्वीकार करने को तैयार है तो उसे और कुछ नहीं चाहिये। इसी के साथ प्रकाशकों को भी चाहिये कि अपनी उदारता द्वारा कवियों के हृदय से धन-लोलुपता निकाल दें।

व्यवहार-विदे—

काव्य के पढ़ने से काव्य में वर्णित देशों और पुरुषों का व्यवहार मालूम हो जाता है। कालिदास के समय की सभ्यता का हमको उनके ग्रंथों से ही पता लगता है। यदि देशका इतिहास मिट जाय तो भी साहित्य से बहुत कुछ पता लग सकता है।

शिवेतरक्षतये—

अमंगल से रक्षा। कुछ लोगों का विश्वास है कि कविता द्वारा की हुई प्रार्थना शीघ्र स्वीकार हो जाती है। गोस्वामीजी

का हनुमान बाहुक उनके व्यक्तिगत दुख के निवारणार्थ बनाया गया था।

सद्यः परनिवृतये—

तत्काल परमानंद की प्राप्ति। काव्य की आत्मा रस बतलाई गई है। रस आनंद को ही कहते हैं। काव्य के सेवन से परमानंद की प्राप्ति स्वाभाविक ही है पर काव्य के पढ़ने से मनुष्य दुखमय संसार को भूल जाता है और आनंद के सागर में गोते खाने लगता है। यह सुख और आनंद जब तक लौकिक रहता है, तब तक तो चिरस्थायी नहीं होता, किंतु थोड़े काल में अलौकिक होकर मोक्ष का साधन बन सकता है।

कांता सम्मित तयोपदेश युजे—

कांता के समान प्रिय उपदेश देने वाला काव्य ही है। उपदेश प्रायः कटु होते हैं, कहा भी है :—

'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'

हित की और मनोहर बात बहुत दुर्लभ होती। परंतु स्त्री का उपदेश प्रेम जन्य होता है और उसका माधुर्य्य उसके उपदेश को भी माधुर्य्य दे देता है। काव्य का उपदेश भी ऐसा ही होता है :—

काव्य के विभाग—

हमारे यहाँ आचार्य्यों ने काव्य का विभाग इस प्रकार किया है :—पहले तो काव्य को दृश्य और श्रव्य में विभाजित किया

है। दृश्य काव्य में नाटकादि आ जाते हैं क्योंकि वह हमारे सामने दिखाये जा सकते हैं और दूसरे सब काव्य श्रव्य में आते हैं। श्रव्य के तीन भेद किये गये हैं। गद्य, पद्य और मिश्रित जो साधारण बोल चाल की भाषा में लिखा जाता है और जिसके वाक्यों में नाप-तौल का विचार नहीं रहता, वह गद्य होता है। पद्य में वाक्य के अक्षरों को नाप तौल रहती है और मिश्रित में गद्य पद्य दोनों शामिल रहते हैं।

गद्य और पद्य—

साहित्य के इतिहास में, विशेषकर भारतवर्ष में कालिक क्रम से पद्य को पहला स्थान मिलता है। भारतवर्ष में इतिहास, भूगोल और वैद्यकादि सभी विषयों के ग्रंथ पद्य में लिखे गये हैं। इसका एक तो विशेष कारण यह है कि पद्य गद्य की अपेक्षा स्मरण रखने में सुगम है। हमारे यहाँ कंठस्थ विद्या का अधिक मूल्य रहा है। कहा भी है :—

पुस्तकस्था तु या विद्या पर हस्तेषु गतं धनं।
कार्य्य काले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्।

यह तो सुभीते की बात रही है। इसके अतिरिक्त प्राचीन लोगों में कल्पना और भाव की आज कल की अपेक्षा प्रधानता रही है। भाव और कल्पना ही कविता के मुख्य उत्तेजक हैं। पहले जमाने में जरा-सी बात पर लोग जान देने को तैयार हो जाते थे। हम आज कल प्रत्येक वस्तु का मूल्य रुपये आने पाई

में देखते हैं। ऐसी अवस्था में पद्य के लिये स्थान नहीं। गद्य और पद्य दोनों ही अपनी अपनी विशेषताएँ रखते हैं।

गद्य में विस्तार और संक्षेप दोनों के लिये स्थान रहता है। जहां पर बात विस्तार से कहना हो वहाँ पर विस्तार से काम लिया जा सकता है। नियम के हेतु संकोच करने की आवश्यकता नहीं रहती। गद्य में भाव को भाषा के आधीन नहीं रहना पड़ता। यद्यपि गद्य और पद्य दोनों में ही भाव और भाषा की उत्तमता पर ध्यान रखना पड़ता है तथापि पद्य में भाषा का और अधिक ध्यान रखना पड़ता है। कुछ बातें ऐसी हैं जो गद्य में ठीक लिखी जा सकती हैं। पद्य में शुष्क नीरस बातों का लिखना शोभा नहीं देता। केवल तुक मिलाना ही पद्य नहीं है। पद्य में खनिज शास्त्र, भूगर्भ विद्या, प्राणिशास्त्र तथा अन्य वैज्ञानिक और दार्शनिक बातों का लिखना शोभा नहीं देता। आज कल तो नाटकों में पद्य को मनुष्य की बोलचाल की स्वाभाविक भाषा समझ स्थान दिया जाता है। मंत्रीगण का सभा में खड़े होकर और गाकर बात करना अस्वाभाविक एवं हास्यास्पद प्रतीत होता है। गद्य में जो बात लिखी जाती है, उसमें गांभीर्य की अधिक मात्रा रहती है। कविता में मार्मिक वेदनाओं का लिखा जाना ठीक है, किंतु यदि साधारण बात को भी कविता में लिखा जाय तो उसमें हास्य की मात्रा आ जाती है। अथवा जो बातें विज्ञान से संबंध रखती हैं उनका पद्य में लिखा जाना एक प्रकार की

खींचतान ही होगी और यथेष्ट अभिप्राय भी प्रकट न हो सकेगा। उदाहरणतः यदि कोई प्लेग और हैजे के कीटाणुओं के संबंध में पद्य में कुछ लिखे तो यही समझा जायगा कि यह अपनी कवित्व शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता है, वैज्ञानिक सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं करना चाहता। यदि कोई कहीं जाने वाला है और उससे कविता में पूछा जाय कि तू कहां जायगा ? तो वह उसको एक प्रकार की विक्षिप्तता ही समझेगा।

इतना कहते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि जो सौंदर्य पद्य में है वह गद्य में नहीं आ सकता और जो विषय गद्य में लिखे जाने योग्य हैं उनके लिये पद्य की अब भी आवश्यकता है। पद्य के नपे तुले वाक्य, वृत्तों का सरस बहाव हमारे चित्त में एक अपूर्व साम्य और आनंद की उत्पत्ति कर देता है जो गद्य में कठिनाई के साथ ही आ सकता है। पद्य में भाव और भाषा की एकाकारिता हो जाती है। वीर रस के भावों की भाषा ओजपूर्ण होती है और शृंगार की माधुर्य्यमय। इसी के अनुकूल कोमला और परुषा वृत्तियों के अल्प प्रयास वाले अक्षर रहते हैं। कविता के वृत्तों में एक अपूर्व साम्य का भाव रहता है जो हमारे मन में तदनुकूल साम्य की जागृति कर देता है। वृत्त द्वारा अनेकता में एकता स्थापित हो जाती है क्योंकि अक्षर विभिन्न होते हुये भी उनकी संख्या, उनकी मात्राएं और प्रायः उनके दीर्घ और लघु होने का क्रम विशेष कर अंतिम शब्दों का एक सा

रहता है। हमारे इस एकाकारिता के कारण हमारा मन एक विशेष बहाव में पड़ जाता है और उस बहाव के अनुकूल शब्दों की आवृत्ति होने से विशेष सुख होता है। छंद शब्द छद् धातु से बना है। जिसका अर्थ आच्छादन करने का है। जो चीज आच्छादित की जाती है वह उसके भीतर आ जाती है। छंद में कही हुई बात एक आकार के भीतर आ जाती है। कविता में इस वाह्य सौंदर्य्य की प्रधानता के अतिरिक्त एक आंतरिक सौंदर्य्य भी रहता है जो हमारे भावों पर एक विशेष प्रभाव डालता है और यही रस की उत्पत्ति के लोकोत्तर आनंद का कारण होता है।

यद्यपि यह युग गद्य का युग समझा जाता है तथापि मानव-समाज नितांत भाव शून्य नहीं हुआ है। इसमें प्रेम, दया, सौजन्य आदि कोमल भावों के लिये अब भी स्थान हैं। आज कल भी हम श्रीरामचंद्रजी के वन-गमन का वृत्तांत पढ़कर दुखित हो जाते हैं और शकुंतला का आश्रम के वृक्षों से बिदा माँगते पढ़कर हमें अपनी पुत्रियों और भगिनियों की बिदा का स्मरण हो आता है और प्रेम के आँसू बहने लगते हैं। किसी दीन दुखिया की कठिन वेदना का वर्णन पढ़कर हृदय दयार्द्र हो जाता है। जब तक मनुष्य के हृदय से प्रेम और दया का स्रोत सूख न जायगा, तब तक कविता के लिये स्थान रहेगा।

कविता के लिये विषयों की कमी नहीं है। आजकल जो

कविता का ह्रास हो रहा है वह इसी कारण है कि हमने अपने दृष्टि-कोण को विस्तृत नहीं किया है। प्रत्येक युग की पृथक् पृथक् आवश्यकताएं होती हैं और सत्कवि उन आवश्यकताओं को समझ युग के संदेश को लोगों के हृदय तल तक पहुँचा देता है। जो कठिनाइयाँ और वेदनाएं साधारण जनता अनुभव करती है और अपनी अज्ञता के कारण प्रकाश करने में मूक रह जाती है, उसको कवि स्पष्ट शब्दों में संसार के संमुख रख कर समाज का बड़ा उपकार करता है। ऐसे उपकार करने का अवसर हर समय रहता है। आजकल जो समाज के वायुमंडल में भाव घूम रहे हैं, उनको स्पष्टता दे मूर्तिमान करना कवि का परम कर्तव्य है। आजकल के युग में दो मुख्य भाव हैं। दोनों और पतितों की पूजा और कर्तव्य-परायणता इन विषयों पर जो भाव पूर्ण पद्य लिखे जायँगे वे समाज को सर्वथा ग्राह्य होंगे। इन मुख्य विषयों के अतिरिक्त और भी ऐसे अनेक विषय हैं जिनके वर्णन सुनने के लिए समाज सदा उत्सुक रहता है। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन, वीर पुरुषों की एवं अन्य महज्जनोंका गुणगान, प्रेमका आत्मत्याग, अहिंसात्मक हास्य, उत्साह-वर्धक भाव और पवित्रता तथा चरित्र संबंधी उपदेश आदि ऐसे विषय हैं जो कवि की लेखनी के लिए विस्तृत क्षेत्र हैं।

उपर्युक्त विषय कविता के प्रधान विषय हैं, किंतु इन पर लिखने का वही अधिकारी है जो इनका स्वयं अनुभव कर सके। कविता में यदि कोई बात आवश्यक है तो यह कि कवि स्वयं

अपने भावों का पूरा पक्षपाती हो, जो भाव वह प्रकट करे, वह दृढ़ निश्चय के साथ करे। जिन कवियों ने दृढ़ निश्चय के साथ लिखा है उन्हीं की कीर्ति संसार में अक्षय रही है। महात्मा तुलसीदास जी की लोक-प्रियता का यही एक मुख्य कारण है कि जो कुछ उन्होंने लिखा वह दृढ़ निश्चय से लिखा है। वह भाव हृदय के अंतर-स्रोत से निकल सारे संसार में फैलकर उसको पवित्र करने लगे हैं। कवि कभी मिथ्या भाषण नहीं करता। उसकी बात चाहे वास्तविक दृष्टि से असत्य हो, किंतु वह असत्य को असत्य जानकर सत्य बनाने का प्रयत्न नहीं करता। वह जो कुछ लिखता है उसको अपना कर ही लिखता है। वह कोरा इतिहासकार नहीं, जो ग्रामोफोन या केमरा की भांति घटनाओं को दुहरा दे। कवि घटना को ही नहीं वरन् समस्त बाह्य संसार को अपने कल्पना-कुंज में स्थान दे, उसको आत्मीय बना लेता है और उसी आत्मीयता के भाव से वर्णन करता है। आजकल ऐसे कवियों की आवश्यकता नहीं जो कविता को एक प्रकार का शगल समझते हैं। कविता कोई पदों और विशेष शब्दों की योजना नहीं है। कवि का कार्य प्रेस के कम्पोजीटर से ऊँचा है। कवि सच्चा कर्ता है। कवि का काम केवल अनुकरण करना ही नहीं, वरन् उत्पादन करना है। उसकी दृष्टि विश्वव्यापिनी होती है वह मानव हृदय के गुह्यातिगुह्य कोण में प्रवेश कर उसका मर्म जान लेती है और अपनी भाषा में उसे

सहृदय जनों तक पहुँचा देती है। कहा भी है कि जहां न जाय रवि तहां पहुँचे कवि। कवि केवल वही नहीं है जो छंद रचना कर सके वरन् कवि की सी प्रकृति रखने वाले सभी कवि कहलाते हैं। कवि और कवि की सी प्रकृति रखने वाले पुरुषों की समाज में सदा आवश्यकता रहती है। जो सहृदय समाज और प्रकृति को ईश्वरीय रचना रूप से देखकर उसमें अपना सेवा भाव रखते हैं और अपने अस्तित्व से संसार और समाज का अस्तित्व चिरस्थायी और सुखमय बनाने का प्रयत्न करते हैं, अपने हृदय से निकले हुए दिव्य-संदेश को चारो ओर पहुँचाकर प्रातःकालीन मुदित विहंगों के कलरव से संसार की जागृति का परिचय देते हैं, वही धन्य हैं, वही देश और समाज का मुख उज्ज्वल करते हैं और उन्हीं का यशः शरीर जरा मरण के भय से मुक्त रहता है। ऐसे ही कवियों के लिये महात्मा भर्तृहरिने कहा है :—

जयंति ते सुकृतिनो रस सिद्धाः कवीश्वराः
नास्ति येषां यशःकाये जरा मरणजं भयम्।

अंतर्नाद

[श्री वियोगी हरि]

बाँसुरी—

क्या फिर कभी बजेगी वह बाँसुरी ? सुनी तो एक ही बार थी, पर उसकी प्रतिध्वनि आज भी इस अंधेरे शून्य हृदयागार में गूंज रही है। समझ में नहीं आता उस फूंक में क्या जादू भरा था।

शिशिर के दिन थे। लजवंती प्रतीची को एक झीनी लाल साड़ी पहनाकर भगवान् भुवन-भास्कर क्षितिज पार कर चुके थे। सुहागिनी प्राची के ललाम ललाट पर कुमुदिनी-कांत सौभाग्य-सिंदूर लगा रहे थे। गो-धूलि-आच्छादित आकाश मकरंद-मंडित पुष्पोद्यान-सा प्रतीत होता था। चिड़ियाँ चहचहाती हुई वृक्षों के अंक में बसेरा लेने जा रही थीं। ठंड के मारे निराश्रय जीव-जंतु आश्रय ढूँढ रहे थे। देखते-देखते चारों ओर सन्नाटा छा गया।

उन दिनों मेरी कुटिया, उत्तराखंड में, एक बीहड़ पहाड़ी के सामने थी। आस-पास टीले-ही-टीले थे। नीचे एक चुलबुला नाला कूद-फाँद कर रहा था, जिसकी विलोल लहरें प्रायः कुटिया के चबूतरे के साथ अठखेलियाँ किया करती थीं।

उस रमणीय संध्या को चबूतरे पर निरुद्देश-सा बैठा हुआ मैं सामने के ऊँचे शिखरों की ओर टक लगाए देख रहा था। स्वच्छ चाँदनी से निखरे हुए हिमाच्छादित श्वेत-शिखर ऐरावत के दाँत में होड़ लगा रहे थे। बैठा-बैठा मैं, न जाने, किस उधेड़-बुन में लग गया। मेरी विचार शक्ति प्रतिक्षण क्षीण होती जाती थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानो मैं किसी गहरे अंधकूप में डूबता जा रहा हूँ।

एकाएक किसी स्वर्गीय स्वर ने मेरी ध्यान-मुद्रा भंग करदी। स्वर बांसुरी-का-सा था। पीछे निश्चय भी हो गया कि कहीं से बाँसुरी की ही ध्वनि आ रही है। वह उल्लसित स्वर-लहरी उस प्रशांत नभोमंडल में विद्युत की भांति दौड़ने लगी। हृदय लहरा उठा। शिखर मुस्कराने लगे। चंद्रमा पुलकित हो गया। परिमल-वाही पवन प्रणय-संकेत करने लगा। दिग्वधुएं घूंघट हटा झाँकने लगीं। नाला भी निस्तब्ध हो गया। पत्तियाँ थिरकने लगीं। मुग्धा प्रकृति के सलज्ज मुख पर एक अनुपम माधुरी-कलिका मुकुलित हो उठी। यह सब उसी मोहिनी ध्वनि का प्रभाव था। तो फिर मैं उसे नव सृष्टि-विधायिनी क्यों न कहूँ ?

हाँ, अवश्य ही उस बाँसुरी की तान में नवीन सृष्टि-विधान का अद्भुत उपादान था। ऐसा न होता तो उस स्वर-लहरी का आलिंगन कर प्रस्तर-खंड क्यों पसीज उठते ? कठोर-हृदया

विभावरी के तारक-नेत्रों में प्रेमाश्रु क्यों छलक आते ? वनश्री का धूमिल अंचल अनुराग-रंजित क्यों हो जाता ? मेरा पाप-परितप्त मलिन हृदय दूध की धारा से पखार कर कौन शीतल और निर्मल करता ?

वंशी-ध्वनि बराबर उसी ओर से आ रही थी। कभी-कभी तो कानों के अत्यंत समीप जान पड़ती थी। उस समय मेरा मन हाथ में नहीं था। रह-रह कर उछल-सा रहा था। वंशी बजाने वाला कौन है, कैसा है, कहाँ है, कैसे मिलेगा—आदि प्रश्नों में उलझकर बेचारा अधीर हो उठा। उस रँगीले जादूगर की तरफ बेचारा खिंचा-सा जा रहा था। चाहा कि कुटिया छोड़कर वंशीवाले की इधर-उधर टोह लगाऊँ, पर उठ न सका। शरीर जकड़-सा गया। क्या वश ! अधीर आँखें कानों को कोसती हुई, बिना पानी की मछलियों की तरह, छटपटाने लगीं।

वंशीवाले ! तुम चाहे जो हो, पर हो पूरे निर्दय ? आँखों से ओट ही रहना था, तो बाँसुरी क्यों फूँकी ? किसने कहा था कि बाँसुरी बजाकर मुझे कुछ-का-कुछ कर दो ! मेरा पहले का जीवन क्या बुरा था ? कम-से कम यह पागलपन तो सवार न था। दिल में न कोई दर्द था, न कसक थी, न आँखों में यह जहरीला नशा। न ऊधौ का देना था, न माधौ का लेना।

खैर, जो हुआ सो हुआ। अब अपना दरस कब दोगे, प्यारे ? वह मोहिनी मुरली कब फूँकोगे, मोहन ?

आँख खोल—

तू कैसा भारतीय उपासक है ? पड़े पड़े कैसे काम चलेगा ? उठ, आँख खोल। देख, प्रभात होने ही वाला है। यह ब्रह्म-वेला है। आत्मानुभूति की जन्म-भूमि यही वेला है। प्राची के अर्द्ध-विकसित सरल हास की ओर तो दृष्टिपात कर। क्या ही अनुपम आभा है। प्रकृति के शुभ्र दर्पण में अनुराग-रंजिता उषा की उद्भावना कैसी प्रतिबिंबित हो रही है! धन्य है वह चतुर चित्रकार, जिसने अनंत आकाश के प्रशांत पट्ट पर यह दिव्य आलोक-रेखा अंकित कर दी है! विहग कुल का स्वर-समूह तो निराला ही है। इसी नाद-नदी के तीर्थ सलिल में निमज्जन कर कवि की अंतर्ध्वनि अपने को कृतार्थ मानती है। तनिक इस ध्यानावस्थित समीर की आराधना तो देख। ब्रह्म-वेला की ऐसी स्वर्गीय आराधना और किससे बनेगी ? समीर की तरल तरंगों में ये परिमल-कण कैसा कल्लोल कला में अदम्य उत्साह और अनंत जीवन का निगूढ़तम रहस्य अंतर्हित हो!

अहा! क्या ही मनोहर दृश्य! आर्य-संस्कृति की पुनीत पताका क्या कभी फहराती देखी है ? यदि नहीं, तो अब देख। यह किसी पुण्य-सलिला तटिनी का तट है। स्वर्गानुमोदित कर्मभूमि का अभिषेक इसी जल से हुआ था। ब्रह्मशब्द की सुगेय गाथा इसी अनादि तरंगिणी की तरंग-तंत्री से प्रतिध्वनित हुई थी। वेदवाणी को इसी तीर पर ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ था।

इन उपासकों की कैसी सरल शुद्ध उपासना है ! प्रथम प्रभात का दर्शन इन्हीं महात्माओं ने किया था। जीवन संग्राम में इन आत्म-वीरों ने अभूतपूर्व विक्रम से विजय-वैजयंती उड़ाई थी। विश्व-प्रेम का अमोघ मंत्र इन्हीं विश्व-वंद्य महापुरुषों के पाद-प्रक्षालन से मिलेगा, अन्यथा नहीं। अतएव उठकर एकबार प्रणतभाव से इनके चरणों पर श्रद्धांजलि चढ़ा। ये प्रसन्न होकर तुझे 'ब्राह्मी-स्थिति' का साक्षात्कार करा देंगे।

तू कैसा महाभारतीय सैनिक है ! पड़े पड़े कैसे काम चलेगा ? उठ, आँख खोल। देख, युद्धारंभ होने ही वाला है। यह विप्लव-वेला है। क्रांति की काली काली घटाएँ घिरने लगी हैं। कैसा विकराल वातावरण है ! दनुज-दल मर्दिनी रणचंडी समरभूमि पर तांडव नृत्य करने जा रही है। क्या तुझे उसके लोक-प्रकंपन नूपुरों का छम-छम शब्द सुनाई नहीं देता ? उद्भ्रांत दिशाएँ थर थर काँप रही है। ब्रह्मांड विक्षिप्त हो उठा है। समस्त जीव जन्तु त्रस्त हो रहे हैं। प्रशांत नभोमंडल के वज्रोपम वक्षःस्थल पर विप्लव की रेखाएँ खचित हो गयी हैं। थोड़ी ही देर में तेरे आस पास नंगी तलवारें बिजलीकी तरह चमकने लगेंगी। सुना है, उन तलवारों पर पद-दलित दुर्बलों के गर्म आँसुओं का विषाक्त पानी चढ़ाया गया है। ओह ! कितनी भीषण तोपें गंभीर गर्जना कर धधकते हुए गोले उगलेंगी ; उनका ब्रह्मांड-भेदी शब्द असहाय दीनों के आर्तनाद का रूपांतर होगा। तेरे देखते-ही-

देखते यहाँ ज्वलंत ज्वालामुखी फट पड़ेंगे। कहते हैं, उन अग्नि-गर्भ पर्वतों का निर्माण प्राणावशेष पीड़ित अस्थि-कंकालों की धुआँधार आहों से हुआ है! कुसुम-कलिका से वज्रोत्पत्ति होगी !!

लो, शंख फूँक दिया गया! रण घोषणा कर दी गयी! लाल झंडे फहरा उठे। शिविर में हल चल मच गयी। कवच और शिरस्त्राण खड़खड़ाने लगे। अस्त्रागार की ओर कितने ही लोग दौड़े जा रहे हैं। कितनी मशालें बल रही हैं! कोई किसी से बोलता नहीं। संकेत से ही बातें हो रही हैं। अरे, यह अग्निकांड कैसा? पूछना व्यर्थ है। इस घोर विप्लव में कौन किसकी सुनता है? यह देख, अग्नि मुख तोपें दुर्भेद्य दुर्गों को धराशायी करने की तैयारियाँ करने लगीं। उधर तलवारें भी कृतांत की जीभों की तरह लपलपा रही हैं। वीर सैनिक कैसे झूमते हुए आगे बढ़ रहे हैं। उनका हुंकार दिशाओं को चीरे डालता है। इन्हीं सर्वस्व-त्यागियों ने प्राणों का मूल्य जाना है। और तू? धिक्कार है तुझे, जो अब भी बिछौने पर करवट बदल रहा है।

कैसे आ गये ?

कैसे आ गये हमारे खेलने के आंगन में? हमारी यह विनोद-स्थली, एक दिन, आनंद की जन्मभूमि मानी जाती थी। प्रेय और श्रेय का यहाँ प्रति दिन मिलन होता था। हम यहाँ खूब हँसते-बोलते, मिलते-जुलते और खेलते-कूदते थे। हमारे प्रत्येक खेल में सत्कल्पना, सरलता, सुंदरता, और भव्यभावना झलकती थी।

राग और द्वेष का तो कभी हमने नाम भी न सुना था। इस अभागे आँगन को हमने, चंद्र-ज्योत्स्ना की धवल धारा से धोकर, स्फटिक सा शुभ्र बना दिया था। यहाँ हम कभी नव-विकसित कुसुम-कलियों को मालाएँ गूँथ-गूँथ कर पहनते थे, कभी ओस की तरल बूंदों को कमल-तंतुओं में पिरो-पिरो कर अपनी उलझी हुई अलकों पर लटका देते थे, कभी स्मित चंद्र-बिंब को गेंद बना कर उछालते थे, कभी प्रभात-समीर के हलके हिंडोले पर झूला करते थे और कभी अंतर्वीणा के मधुर-स्वर में मुक्त-गीत गाते थे। उस समय हमारी वज्र-भुजाओं में अखंड पराक्रम भरा था। विकसित मुख-कमल पर अक्षत पराग झलकता था। सरस हृदय से सद्भावों का स्रोत उमड़ा था और बड़े बड़े नेत्रों में अग्नि-शिखा-सी प्रज्वलित रहती थी। हम ऐसे खिलाड़ी थे कि हमने इस अनंत विश्व को ही एक खेलवाड़-सा समझ रक्खा था। पर कौन जानता था कि यह आकस्मिक प्रवेश हमारे इस आँगन को अपवित्र और कलुषित कर देगा? तुम हमारा खेल देखने आये थे। अच्छा खेल देखा! आज न यहाँ वह प्राकृतिक छटा है, न वह कल्लोल की स्वाभाविक स्वच्छंदता। आज हम व्यर्थ का काम करने के लिए इस सर्व-नाशिनी कृत्रिम कर्मण्यता के हल में कोल्हू के बैल की तरह, जोत दिये गये हैं। आज हमारे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक -तीनों ही- विकासों पर कुठाराघात हुआ है। जिस

सुविस्तीर्ण विश्व को हम खेलवाड़मात्र समझते थे, आज वह कारागार-सा भयावह देख पड़ता है ! इतने पर तुम यह घोषणा करते फिरते हो कि हम तुम्हें स्वावलंबन और स्वतंत्रता का पाठ पढ़ाने आये हैं !

कैसे आ गये हमारे इस उद्यान में ? एक दिन यह उद्यान नंदनवन से होड़ लगाता था। यहाँ की रत्नगर्भा स्वर्णभूमि का उपभोग करने के लिए अमरावती के निवासी भी लालायित रहते थे। सुना है, इस शस्यश्यामला वसुंधरा पर दूध की नदियाँ बहती थीं। इस सुरम्य उद्यान में बारह मास बसंत रहता था। रंग-विरंगे फूलों की क्यारियां आदि-नटी प्रकृति के अभिनय कौशल का एक उज्वल आदर्श उपस्थित करती थीं। हरित और लहलहे फलित वृक्षों की सघन छाया ने कितने ही परिश्रांत पथिकों का पसीना पोंछ-पोंछ कर उन्हें विश्रांति-सुख न दिया होगा ? शीतल समीर के सुमृदु सरस स्पर्श ने कितनों का आतिथ्य न स्वीकारा होगा ? इस उद्यान में कहीं स्वच्छंद मृग-शावक चौकड़ी भरते थे, तो कहीं छाया में बैठकर गोवत्स तृण टुंगा करते थे। उन्मत्त विहंग-कुल अलग ही, वृक्षों के स्नेह अंक पर कूजन और किल्लोल किया करता था। हम लोग भी आनंदोन्मत्त हो इस स्वर्गाराम में विचरते हुए, स्वतंत्रता की रागिनी अलापा करते थे। पर यह कौन जानता था कि तुम्हारा यह कुप्रवेश इस हरे-भरे उद्यान को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा ?

तुम इसमें सैर करने आये थे। अच्छे सैलानी निकले! जिन रत्नों का हमको भी पता न था, वे भी खोद खोद कर निकाल लिये गये! सारा नंदनवन उजाड़ हो गया। वृक्षों में एक भी फल न बचा। दुग्ध परिषिक्त भूमि पर मदिरा का छिड़काव कर दिया गया। जिस स्वार्थ-परता और निर्दयता से इस स्वर्गीय उद्यान का चौपट हुआ है, उसे या तो हम जानते हैं या घट-घटवासी परमात्मा। इतने पर यह बकते फिरते हो कि हम माली बन कर तुम्हारे ऊजड़ बाग की रखवाली करने आये हैं!

कैसे आ गये हमारे राज महलों में? ये महल एक दिन महेन्द्रभवन पर हँसते थे। हम लोगों ने इन खंडहरों में जैसी राजसी भोगी, कोई क्या भोगेगा? उस काल संसार के समस्त साम्राज्य हमारे सामने उच्छिष्ट माने जाते थे। इन महलों की प्राचीन चित्र-कला आज भी हमारे उन्नत गौरव को सूचना दे रही है। किसी दिन इन टूटे-फूटे कँगूरों से स्वर्गीय सुख आलिंगन करने आये थे। लक्ष्मी और सरस्वती की विहारस्थली इसी लीला भूमि पर थी। रणचंडी के कराल खड्ग ने यहीं अट्टहास किया था। सूर्य की उज्वल किरणों ने न्याय-विधान को अभिषिक्त कर सब से पहले यहीं प्रतिष्ठित किया था। पर यह कौन जानता था कि यह पाशविक प्रवेश इन राज महलों की ऐसी दुर्दशा कर डालेगा? तुम हमारे अतिथि होकर आये थे। अच्छे अतिथि निकले! हमको निकाल कर स्वयं ही गृहपति

बन बैठे ! आज न वह रत्न सिंहासन पर ही दिखाई देता है न वे मणि-मालायें हीं। मणियों के स्थान पर काँच की किरचें, और सोने-चाँदी के बदले टीन के खिलौने, निस्संदेह सजा दिये गये हैं। जहाँ तहाँ मदिरा के प्याले और मांस की रकाबियाँ भी रख दी हैं। इन महलों का तो रूप ही बदल गया। और फिर हमारा क्या हुआ, हमही जानते हैं। कहने को हम आज भी इन महलों में रहते हैं, पर किस प्रकार ? कैदियों की तरह ! और किस प्रकार कोष लुट चुका है, शक्ति छिन्न भिन्न हो गई है, हृदय विलास-प्रिय बना दिया गया है और आत्मा पर डाल दी गई है एक काली चादर ! इतने पर यह दावा करते हो कि हम तुम्हें शिष्ट और योग्य बनाने आये हैं !

कैसे आ गये हमारे आराधना-मंदिर में ? यह मंदिर एक दिन 'सत्यं, शिवं, सुंदरं' का अधिष्ठान था। ज्ञानोदय सबसे पहले यहीं हुआ था। आराधकों ने अंतर्नाद द्वारा इस मंदिर की प्राण-प्रतिष्ठा की थी। उन्होंने ज्ञान, भक्ति और कर्म में यहीं समन्वय किया था। स्वच्छ परिमल-वाही पवन ने यहीं से 'मुक्तिमंत्र'—लेकर विश्व के कान में फूँका था। हम इस मंदिर के आराधक होने में अपने को परम कृतार्थ समझते थे। पर, यह कौन जानता था कि तुम्हारा अपवित्र पदार्पण इस दिव्य मंदिर को पैशाचिक कांडों का अड्डा बना देगा ? तुम यहाँ साधक होकर आये थे। अच्छी साधना की ! किसने कहा था कि तुम इस मंदिर की सफेद दीवारों पर विषय-वासना की कालिमा पोत दो,

धर्म ग्रंथों को हमारे हाथ से छीनकर रास्ते पर फेंक दो, या हमारी फूलों की डलिया देवता के आगे से हटाकर अपने पैरों से कुचल डालो ? तुम्हारे पदार्पण ने मंदिर को मदिरालय, श्रद्धा को अंधता, साधना को कवि-कल्पना, और धर्म को आडंबर बना डाला। हमारी प्राणाधिक आस्तिकता भी आज चौपट कर दी गयी। आज न हम लोक के रहे, न परलोक के ! इतने पर यह कहने का दुस्साहस करते हो कि हम तुम्हें निर्मल, उदार और धार्मिक बनाने आये हैं !

अछूत

"अछूत ! अछूत !!"

"हैं ! अछूत यह है या तुम ?"

"यही काला कलूटा जो सामने खड़ा है। हम लोगों को कौन अछूत कह सकता है ?"

"इसे—इस पद-दलित गरीब को-अछूत मान लेने का आदेश तुम्हें किस न्यायाधीश के इजलास से प्राप्त हुआ है ? इस अछूत-आईन की प्रसविनो किस व्यवस्थापक की लेखनी है ? किस निर्णायक ने तुम्हें यह निर्णय दे रखा है ?"

"आदेश ! व्यवस्था ! निर्णय !! तुम्हें यह सब पूछने का क्या अधिकार है ?"

"संभव है, तुमने कभी स्वार्थ-स्वप्न में किसी न्यायाधीश व्यवस्थापक अथवा निर्णायक की प्रतिच्छाया देखी हो। पर,

सावधान ! वह न्यायाधीश नहीं, शैतान का कोई वंचक वकील होगा, व्यवस्थापक नहीं, शांति-विच्छेद करने वाला कोई आततायी होगा, निर्णायक नहीं, अधःपतन का पांसा फेंकनेवाला कोई चतुर जुआरी होगा। सावधान, वह न्यायालय नहीं, माया-मंदिर होगा; व्यवस्था-भवन नहीं, वंचना-गृह होगा; निर्णय-निकेतन नहीं, गोलमाल का अड्डा होगा।"

"निरे निरक्षर हो, सुधारक ! धर्मशास्त्र के एक भी सूत्र पर मनन किया होता, तो आज ऐसी ऊँट-पटाँग बातें न बकते फिरते।"

"सुनो, सुनो। सच बात तो यह है कि क्रिया के साथ ही प्रतिक्रिया की प्राण-प्रतिष्ठा हो जाया करती है। पर, तुमलोग इस महा-महासूत्र से नितांत अनभिज्ञ हो। इस व्यवहारिक सिद्धांत पर तुमने जरा भी दिमाग खर्च किया होता, तो आज विश्व के 'स्वतंत्र्य-सदन' से तुम्हारा और तुम्हारे समाज का वहिष्कार ही क्यों किया जाता। तुम्ही बताओ, आज मानव-समाज में तुम छूत हो या अछूत ? न्यायावतार ! समाज के चित्र-पट्ट पर केवल इसे ही क्यों काली रेखाओं से अंकित किया है ?"

"क्योंकि यह जन्म से ही घृणास्पद, पतित और अस्पृश्य है। इसके संस्कार पूर्व-जन्म से ही नीच हैं। हमारी बराबरी कैसे कर सकता है ? इसके स्पर्श से हमारे पैरों की धूल तक अछूत हो जाती है। संसार में यदि कहीं स्वच्छता उज्ज्वलता

और उच्चता है, तो वह हमारे द्विज-समाज में ही है, अन्यत्र नहीं।"

"ढोंग, निरा ढोंग। इस दम्भाचार को क्या स्वच्छता, उज्ज्वलता और उच्चता कहते हैं ? अंतरात्मा के दर्पण में, तनिक, अपना रूप तो देखो, महाराज ! कितनी मलिनता है ! छिद्रान्वेषण का काजल आँजते आँजते तुम्हारे ओजस्वी नेत्र निष्प्रभ हो चुके हैं, पर तुम्हें उनके विकृत सौंदर्य पर शायद अब भी, अशेष गर्व है। पहले तुम्हारा मुख कमल कैसा प्रफुल्लित रहता था। सहृदयता का वह पराग ही कुछ और था। आज तुम्हारी कांति कहाँ गयी ? तुम्हारा कांचन वर्ण शरीर आज अकारण द्वेष से झुलस-सा गया है। यह झुर्रियाँ दूसरों पर व्यर्थ घृणा करते करते ही पड़ गयी हैं। विचार-संकीर्णता ने ही तुम्हारे शत्रु और उन्नत अंगों को निर्बल और जर्जरित कर दिया है। भले ही तुम नख से शिख तक दंभ का इत्र पोते रहो, पर दुर्गंध की यह विषाक्त लहर, एक न एक दिन, तुम्हारे जीवन के अंतस्थल में व्याप्त हो कर ही रहेगी। इस मूक अछूत का अमोघ अभिशाप निश्चय ही तुम्हें उच्चता के विमान से च्युत करके रसातल में फेंक देगा।"

"इस नीच पतित का अभिशाप ! तब तो यह विश्वामित्र और दुर्वासा को मात कर देगा !

संदेह क्या ! अस्तु। कुछ भी हो, तुम अपनी पुरानी लकीर

पीटते ही जाना। भूलकर भी मिथ्याचारों से मुख न मोड़ना; क्योंकि इन्हीं ढोंगों की बदौलत तुम छूत, ऊँच और लब्ध-प्रतिष्ठ बन गये हो। मूर्ख तो यही अभागा है। इसी से तो इसका अमल अंग अस्पृश्यता के आभूषणों से अलंकृत किया गया है! मूढ़ ने व्यर्थ ही कपट के साथ वैर बिसाह लिया। सदाचरण को अकारण ही अपना सुहृद बनाया। कैसा पागल है! पुरस्कार की उपेक्षा करके दया और सेवा को योंही युगानुयुगों से अपनाये बैठा है! तुम्हारी तरह यह शाब्दिक आस्तिक भी तो नहीं। हिसाब किताब में बिलकुल ही कोरा है। यही कारण है, कि धर्म-विधानों का जबानी जमाखर्च नहीं रख सकता और अब भी, मनुष्योचित हार्दिक भावों का अपव्यय किया करता है। देवाधिदेव! तुम्हारे श्रीपाद-पद्म समीपेषु रहते हुये भी इस कुंदजहन ने सनातन समाज-व्यापी स्वार्थवाद का यथेष्ट अध्ययन नहीं किया। तभी तो आज तिरस्कृत और पद-दलित होकर मारा-मारा फिर रहा है।"

"कहते जाओ! सुन रहा हूँ।"

"क्या लाभ! तुम्हारे आगे यह सारा कथनोपकथन अरण्य रोदन से कुछ अधिक मूल्य नहीं रखता। हाँ, इस दुर्मति ने व्यर्थ ही पसीना बहा-बहाकर, जीवन भर, सूखी रूखी रोटियों से अपना पापी पेट भरा। मुफ्त का माल हड़प जाने की परा विद्या सीख जाता, तो आज इसकी तोंद तुम्हारी ही जैसी

सचिक्कण, पीन और दिव्य दिखायी देती। धर्म-धुरंधरता की कलित कला में पारंगत होता, तो आज यह भी, तुम्हारी ही भाँति, सब कुछ करता हुआ भी 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' निर्लेप रहता। बेचारा निर्बल है, निराश्रय है, तुम्हारे ब्रह्मास्त्र का सामना कैसे कर सकता है? धर्मशास्त्र तुम्हारा, व्यवस्था तुम्हारी, आचार्यता तुम्हारी और वेदोक्त ईश्वर भी तुम्हारा। जहाँ देखो वहाँ तुम्हारा ही बोलबाला है। इस एकाधिकार से निसंदेह तुम फूले न समाते होगे। और चाहे जो करो, पर दया करके समदर्शी ईश्वर के नाम पर तो धाँधली न मचाओ, कृपानिधान! वह तुम्हारी बपौती नहीं है। ईश्वरी विधान और न्याय के तुम्हीं एकमात्र ठेकेदार नहीं हो। न्यायावतार! आँखें क्यों बंद कर लीं? क्या सोच रहे हो?"

"धोखा! धोखा!!"

"कैसा धोखा?"

"अंतस्थल के स्फटिक-मंदिर में देख रहा, हूँ धोखा! इन घृणित और पद दलित अछूतों को परमात्मा कैसे स्नेह से भेंट रहा है! वास्तव में, वह पतित-पावन है—दुर्लभ बंधु है! इतने दिनों बाद कहीं मेरी आज आँखें खुलीं।

"अब तो न कभी इसे अछूत कहोगे?"

"कभी नहीं, स्वप्न में भी नहीं।"